सम्पादकीय

किसान और किसानी की तबाही : जिम्मेदार कौन?

खेती किसानी का संकट आज अचानक मीडिया और राजनीति के गलियारे में गर्मागर्म चर्चा का विषया बन गया है। लेकिन यह सब गलत मुद्दे के इर्द-गिर्द और गलत मंशा से किया जा रहा है। भूमि अधिग्रहण अध्यादेश के विरोध में दिल्ली के जंतर मंतर पर आम आदमी पार्टी की किसान रेली में गजेन्द्र सिंह की पेड़ से लटककर मौत की दुःखद घटना के बाद राजनीतिक पार्टियों के बीच आरोप-प्रत्यारोप, तू-तू-मैं-मैं और खोखली बयानबाजी का जो सिलसिला चल पड़ा उसने भारतीय राजनीति की विद्रूपता और घिनौनेपन को सतह पर ला दिया। इसने एक बार फिर स्पष्ट कर दिया कि इन राजनीतिक पार्टियों के लिए किसी का मरना-जीना राजनीतिक हानि-लाभ से अधिक कोई मायने नहीं रखता। लोकसभा में इस मुद्दे पर शोर सराबे के बीच अध्यक्ष सुमित्रा महाजन ने ठीक ही कहा कि किसानों के सरोकारों से किसी को कोई मतलब नहीं, सब अपनी-अपनी राजनीति कर रहे हैं। इस पूरे घटनाक्रम पर यह एकदम सही टिप्पणी है।

गजेन्द्र सिंह की मौत की घटना से ठीक पहले लगभग एक महीने तक बेमौसम बरसात और ओला वृष्टि के चलते रबी की फसल को भारी नुकसान हुआ था। इससे उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, मध्यप्रदेश और राजस्थान सहित ग्यारह राज्यों के किसान प्रभावित हुए। गेहूँ के अलावा तिलहन, दलहन और आलू की फसल को भी भारी नुकसान हुआ था। इस प्राकृतिक आपदा ने पहले से ही संकटग्रस्त किसानों को कहीं का नहीं छोड़ा। इस विपत्ति के कारण पूरे महीने विभिन्न राज्यों से किसानों की आत्महत्या या सदमें से हुई मौत की खबरें आती रहीं। लेकिन केन्द्र और राज्य सरकारें यह मानने को तैयार नहीं कि किसानों की अकाल मौत का कारण खेती की तबाही है, उलटे वे किसान आत्महत्याओं पर लीपापोती करने और उनकी संख्या कम से कम दिखाने का लगातार प्रयास कर रही हैं। मुआवजे को लेकर भी तरह-तरह से हीला-हवाली और एक-दूसरे पर जिम्मेदारी लादने का प्रयास चलता रहा। फसल के नुकसान का आकलन करने और मुआवजे की रकम तय करने में भी काफी दाँव-पेंच होता रहा। केन्द्र और राज्य सरकारें अपनी जिम्मेदारी से बचने के लिए चोर दरवाजे तलाशती रहीं जबकि किसान चरम हताशा में मौत को गले लगाते रहे।

फसल की तबाही और किसानों की मौत का सिलसिला अभी थमा भी नहीं था और उधर केन्द्र की भाजपा सरकार भूमि अधिग्रहण अध्यादेश को हर कीमत पर लागू करने के लिए हाथ-पाँव मार रही थी। देशव्यापी विरोध और सरकार के प्रति उबलते गुस्से को शान्त करने के लिए प्रधानमंत्री ने 'मन की बात' रेडियो प्रसारण में भूमि अधिग्रहण के तमाम फायदे गिनवाये और इसके लिए तथ्यों में तोड़मरोड़ और कुतर्कों का भरपूर सहारा लिया। अपने विधेयक के पक्ष में लोगों का समर्थन जुटाने में वे इतने लीन थे कि उसी समय हो रही फसल की तबाही, किसानों की आत्महत्या और मुआवजे की माँग पर वे पूरी तरह चुप लगाये रहे। इसके कुछ ही दिनों बाद भाजपा कि विशेष बैठक बुलाकर भूमि अधिग्रहण के पक्ष में माहौल बनाने की रणनीति भी तैयार की गयी।

भूमि अधिग्रहण के पक्ष में यह तर्क दिया जा रहा है कि खेती के अनुत्पादक और कम आमदनीवाले पेशे में भारी संख्या में लोग लगे हैं। किसानों की गरीबी और पिछड़ेपन को दूर करने के लिए जरूरी है कि उनकी सहमति के बिना भी उनसे जमीन ले ली जाय। फिर उस जमीन पर उद्योग, सड़क और आधुनिक सुविधाओं से सम्पन्न शहर विकसित किये जायें। इससे खेती पर निर्भर लोग वहाँ से मुक्त होंगे और उद्योगों में रोजगार पायेंगे। अरुण जेटली ने पूँजीपतियों की एक बैठक में भाषण देते हुए कहा कि भूमि अधिग्रहण से जो विकास होगा उससे 30 करोड़ रोजगार पैदा होंगे, हालाँकि उन्होंने यह नहीं बताया कि कैसे और किस तरह के रोजगार पैदा होंगे। प्रधानमंत्री बार-बार सफाई देते हैं कि भूमि अधिग्रहण पूँजीपतियों के हित में नहीं बल्कि गरीब जनता के हित में है। किसानों की मर्जी के खिलाफ उनकी जमीन छीनने का अध्यादेश भला गरीबों के हित में कैसे हो सकता है।

पिछले दिनों इस विषय पर कई रिपोर्टें भी आयी हैं, जिनमें यह बताया गया है कि भारी संख्या में किसान खेती से तंग आ चुके हैं। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के अनुसार 44 प्रतिशत और सीएसडीएस के अनुसार 67 प्रतिशत किसान खेती छोड़ना चाहते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लगभग 80 प्रतिशत छोटी जोतवाले किसानों के लिए खेती आज गले की हड्डी बन गयी है। पिछले 10 वर्षों में दो लाख किसानों की आत्महत्या इस कृषि संकट की विकरालता का सबसे बड़ा प्रमाण है। लेकिन इतने दबावों के बावजूद किसान खेती से क्यों बँधे हुए हैं? यही नहीं, काम करने की उम्रवाली कुल आबादी में खेती में लगे श्रमिकों की संख्या

2001 में 26.5 प्रतिशत से बढ़कर 2011 में 30 प्रतिशत हो गयी, जबकि इसी अवधि में 86 लाख किसानों ने खेती छोड़ दी, साथ ही भूमि अधिग्रहण के जरिये इसी बीच लाखों हेक्टेयर जमीन कृषि क्षेत्र से बाहर हो गयी। फिर भी कोई तो कारण है कि कृषि पर आश्रित लोगों की संख्या घटने के बजाय बढ़ ही रही है।

जाहिर है कि खेती से चिपके रहना किसानों के लिए शौक, जज्बात या रवायत का सवाल नहीं है। उनके सामने सबसे बड़ा सवाल यह है कि वे खेती छोड़ दें तो जीविका का क्या साधन अपनायें। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। देश की अर्थव्यवस्था के दो अन्य क्षेत्रों-- उद्योग और सेवा क्षेत्र का सकल घरेलू उत्पाद में तो हिस्सा बढ़ रहा है लेकिन उसी अनुपात में रोजगार नहीं बढ़ रहा है। आर्थिक सर्वे 2013-14 के मुताबिक पिछले 15 वर्षों में सकल घरेलू उत्पाद में खेती का योगदान 23.2 प्रतिशत घटकर 13.9 प्रतिशत रह गया, जबकि गैर कृषि क्षेत्र का योगदान बढ़कर 85 प्रतिशत हो गया। फिर भी 2011-12 में कृषि क्षेत में 51.2 प्रतिशत लोगों को रोजगार मिला हुआ था जबकि सकल घरेलू उत्पाद में 59.9 प्रतिशत हिस्सेदारीवाले सेवा क्षेत्र में सिर्फ 26.9 प्रतिशत लोगों को काम मिला था।

ऐसी स्थिति में खेती छोड़नेवाले किसानों के लिए उद्योग और सेवा क्षेत्र में रोजगार मिलने की कोई गुंजाइश नहीं है। खेती छोड़ने के विकल्प के रूप में उनके लिए केवल असंगठित या अनौपचारिक क्षेत्र में हाड़तोड़ मेहनत, कम मजदूरीवाले काम ही हैं और वह भी पूरी तरह से अनिश्चित और असुरक्षित। गाँव से उजड़ने का सीधा मतलब है, शहर की गन्दी बस्तियों में जिन्दगी गुजारना, जहाँ जीवन की जरूरी सुविधाएँ-- पीने का पानी, सफाई, बच्चों की पढ़ाई, इलाज और सुरक्षा की कोई गारण्टी नहीं। इस हकीकत को किसान अपनी आँखों के आगे देख रहे हैं कि जमीन से उजड़नेवाले लोगों का भविष्य कैसा है।

क्या संकटग्रस्त खेती और खेतीहर आबादी की मुक्ति का केवल एक ही उपाय है कि उनको जमीन से बेदखल कर दिया जाय, जो सरकार उनके गले उतारना चाहती है? दरअसल इस संकट के लिए सरकार की नवउदारवादी नीतियाँ जिम्मेदार हैं, जिस पर सरकार और उसके पिछलग्गू हमेशा पर्दा डालने का काम करते हैं। आत्महत्या और कर्ज जाल जैसी समस्याएँ खुद इस समस्या का कारण नहीं हैं, बल्कि इन नीतियों द्वारा उत्पन्न संकट के परिणाम हैं। इसका समाधान यह नहीं कि उन्हें अपनी जगह जमीन से उजाड़कर दर-दर की ठोकर खाने के लिए छोड़ दिया जाय।

खेती का संकट तो पहले भी था लेकिन 1991 में राव-मनमोहन की सरकार द्वारा नयी आर्थिक नीतियाँ लागू की जाने के साथ यह संकट पहले से अधिक विकट हुआ है। इन्हीं नीतियों के परिणामस्वरूप पहले किसानों को बाजार के दानवों से एक हद तक बचाने के लिए सरकार ने लागत सामग्री पर सबसीडी देने और उपज को लाभकारी मूल्य पर सरकारी खरीद की जो नीति बनायी थी उसे एक-एककर वापस लिया जाने लगा। इसने किसानों की तबाही का रास्ता साफ कर दिया।

1990 के दशक में डंकल प्रस्ताव के तहत विश्व व्यापार संगठन बना और भारत सरकार भी उसमें शामिल हुई। इसका मकसद खेती से जुड़े व्यवसायों में विदेशी बहुराष्ट ्रीय निगमों का वर्चश्व कायम करना था। देश की हर छोटी-बड़ी राजनीतिक पार्टी विश्व व्यापार संगठन और अमरीकी चौधराहटवाले साम्राज्यवादी गिरोह की नीतियों की समर्थक है। हर सरकार बढ़-चढ़कर उन्हीं किसान विरोधी नीतियों को लागू कर रही है।

विकास का झाँसा देकर सत्ता में आयी मौजूदा केन्द्र सरकार ने भी सत्ता में आते ही एक से बढ़कर एक किसान विरोधी फैसले लिये। दो साल पहले भूमि अधिग्रहण कानून में किसानों के लिए जो नामचारे की राहत दी गयी थी उसे उद्योगपतियों और बिल्डरों के हित में पलटने के लिए मोदी सरकार ने अध्यादेश जारी किया और अब किसी भी कीमत पर उसे संसद में पास करवाने पर आमादा है। खाद, बीज, पानी, बिजली पर सरकारी सबसीडी में कटौती के लिए सरकार नये-नये पैंतरेबाजी कर रही है, जिसमें बैंक खाते में पैसा डालने का छलावा भी शामिल है। बीज, खाद की बनावटी किल्लत और कालाबाजारी भी इस बार अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। फसलों की सरकारी खरीद को कम करके या खत्म करके उसे पूरी तरह देशी-विदेशी अनाज व्यापारी कम्पनियों के हवाले किया जा रहा है। केन्द्र सरकार ने फसल खरीद के समय समर्थन मूल्य पर तो कोई बोनस देने से खुद तो मना कर ही दिया, राज्य सरकारों को भी चेतावनी दी कि अगर वे बोनस देंगे तो केन्द्र सरकार उनसे अनाज नहीं खरीदेगी। फसलों के भण्डारण के काम से भी सराकर ने हाथ खींच लिया है, ताकि रिलायन्स, आईटीसी और अडानी जैसे निजी मुनाफाखोरों को लूट की छूट मिल जाये। पिछली सरकार ने निरवंशी बीटी बीज पर जो रोक लगायी थी, उसे इस सरकार ने हटा दिया। इसके चलते हर बार विदेशी बीज कम्पनियों से महँगे बीज खरीदना किसानों की मजबूरी होगी। आज विकास एक डरावना शब्द बन गया है जिसका सीधा मतलब किसानों और मेहनतकशों के खून-पसीने को सिक्कों में ढालकर सरमायादारों की तिजोरी भरना है।

दुनिया-भर के सरमायादार सैकड़ों सालों से खेती को मुनाफे का धंधा बनाने का मंसूबा बाँध रहे थे। लेकिन खेती से जुड़ी समस्याओं और जोखिम को देखते हुए उसे सीधे अपने हाथ में लेकर उत्पादन करवाने में उनकी कोई रुचि नहीं। इसकी जगह खेती को पूँजी के प्रभाव में लेकर भरपूर मुनाफा कमाना कहीं आसान है। खाद, बीज, सिंचाई के साधन, कीटनाशक मशीनरी इत्यादि की मनमानी कीमतों के जरिये बैंकों से कर्ज देकर ब्याज वसूलने के जरिये, फसल की खरीद-बिक्री, भण्डारण, ढुलाई, प्रसंस्करण, व्यापार और यहाँ तक कि फसलों की कीमत पर सट्टेबाजी के जरिये भरपूर मुनाफे की गुंजाइश है। एक अध्ययन के मुताबिक दुनिया-भर खेती में से

होनेवाली फसल की कुल कमाई (मूल्य योगदान) में 25 फीसदी हिस्सा लागत सामान बनानेवाली कम्पनियों के हिस्से, 65 फीसदी हिस्सा फसल खरीद, भण्डारण, ढुलाई, प्रसंस्कारण, पैकिंग और बाजार में खुदरा बिक्री में लगे व्यवसायियों की तिजोरी में जाता है। केवल 10 फीसदी हिस्सा ही किसान को हासिल होता है। भारत में यह अनुपात कुछ कम-ज्यादा हो सकता है, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसानों का उपज में हिस्सा लगातार गिरता जा रहा है। यह असमान और अन्यायपूर्ण बटवारा पिछले 20 वर्षों के नीतिगत बदलावों का नतीजा है, जिसमें डंकल प्रस्ताव और विश्व व्यापार संगठन की नीतियों पर आधारित देशी-विदेशी पूँजी के गठजोड़ की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सरकार की भूमिका इसी काम को करनेवाली नीतियाँ बनाने तक सीमित है।

खेती के चौतरफा संकट से निजात पाना आज बहुत कठिन हो गया है। इस जटिल समस्या का कोई सरल समाधान सम्भव नहीं। यह समस्या तभी से विकट हो गयी जब इनसानी समाज और कुदरत के बीच का तालमेल टूट गया और खेती पूँजी की गिरफ्त में होती चली गयी। इसके चलते पर्यावरण का जो विनाश हुआ, वह भी हमारे भविष्य और भावी पीढ़ियों के लिए बहुत ही खतरनाक है। आज भी इसकी झलक भूजल स्तर गिरने, जमीन का पानी जहरीला होने, कैंसर की महामारी फैलने और जमीन की उर्वरता घटने के रूप में देख सकते हैं। धरती हमारी माँ है, तो उसकी हिफाजत करना और उससे अपनी जरूरत-भर माँगना, प्रकृति और समाज के बीच सही सन्तुलन कायम करके ही सम्भव है। लेकिन यह लक्ष्य खेती को सामुदायिक क्रियाकलाप बनाकर ही हासिल किया जा सकता है। आज की समस्या अलग-अलग किसानों ने नहीं पैदा की है। इसका स्थायी समाधान भी अलग-अलग सोच के साथ मुमकिन नहीं। यह एक उन्नत समाज का सपना है, जो न्याय और समानता पर आधारित होगा, सर्वे भवन्तु सुखिनः और वसुधेव कुटुम्बकम के आदर्श पर आधारित होगा।

जहाँ तक फौरी समाधान का सवाल है, यह खेती के कुल मूल्य योगदान में किसानों का हिस्सा बढ़ाकर ही हासिल हो सकता है, तभी किसान सम्मान से जी सकेगा और अपनी जरूरतें पूरी कर सकेगा। इसके लिए लागत की कीमतें कम करना और उसके व्यापार में लगे सरमायादारों के हिस्से में कटौती करनी होगी। दूसरा, फसल तैयार होने से लेकर अन्तिम उपभोगकर्ता तक पहुँचने के बीच जिन कार्रवाइयों में लगे सरमायादार जो मूल्य बटोरते हैं, उसमें भी किसानों की हिस्सेदारी बढ़ानी होगी। सीधी भाषा में कहें तो यह तभी सम्भव होगा जब खेती का लागत खर्च घटाया जाय तथा फसल की उचित कीमत और पूरी खरीद की गारण्टी की जाय। लेकिन इसके लिए नवउदारवादी नीतियों को पलटना होगा। क्या देश की किसी भी पार्टी में ऐसा करने का दम है?

भाजपा ने चुनाव घोषणा पत्र में स्वामीनाथन कमेटी के सुझावों को लागू करने का वादा किया था। क्या किसी भी पार्टी में इन्हें लागू कराने की हिम्मत है?

सच पूछें तो विश्व व्यापार संगठन के साथ समझौता करके सरकार ने इस पर फैसला लेने का अधिकार पूरी तरह सरमायादारों को सौंप दिया और सरकार का काम केवल उनके ही स्वार्थों की पूर्ति करनेवाली नीतियाँ बनवाना रह गया है। वे अपने माल की मनमानी कीमत किसानों से वसूलते हैं और किसानों की उपज की मनमानी कीमत भी वे ही तय करते हैं। इस फन्दे को कोई किसान अकेले नहीं काट सकता। चेतना, संगठन और संघर्ष के दम पर ही इन किसान विरोधी नीतियों को पलटना सम्भव है।

पाठकों से अपील

'देश-विदेश' अंक 20 आपके हाथ में है। हमारा प्रयास है कि इसे अनियतकालीन पत्रिका की जगह हर तीन माह पर नियमित प्रकाशित किया जाय।

❑ जिन साथियों को पत्रिका निरन्तर डाक से भेजी जा रही है, वे कृपया सूचित करें कि उन्हें पत्रिका मिल रही है या नहीं और उन्हें आगे से भेजी जाय या नहीं।

❑ देश-विदेश अव्यवसायिक पत्रिका है। यह साथियों के श्रम और सहयोग से ही प्रकाशित होती है। आर्थिक संकट से जूझते हुए अब तक हमने 20 अंक निकाले। पाठकों के सहयोग से ही यह सम्भव हो पाया।

❑ पत्रिका अभी भी अनियमित है, इसलिए नियमित चन्दे की दर तय करना सम्भव नहीं। डाक से मँगवाने के लिए 5 अंकों की सहयोग राशि 100 रुपये या आजीवन सदस्यता न्यूनतम 1000 रुपये निम्न लिखित बैंक खाते में अन्तरित करें। और इसकी सूचना एसएमएय या ई मेल से भेज दें।

नाम : अतुल कुमार गुप्ता
S.B. A/C : 601510100024041
IFSC : BKID 0006015
बैंक ऑफ इण्डिया,
जी.टी. रोड, शाहदरा, दिल्ली-32

मनी ऑर्डर भेजने का पता है–
अतुल कुमार गुप्ता
1/4649/45 बी, गली न. 4,
न्यू मॉर्डन शहादरा
दिल्ली- 110032

मई दिवस की कहानी

-हावर्ड फास्ट

यह एक कहानी है।

...लेकिन आप सभी लोगों के लिए नहीं! आप में से केवल उन लोगों के लिए जो जीवन से प्यार करते हैं और जो आजाद आदमी की तरह जीना चाहते हैं। आप सभी के लिए नहीं, बल्कि उन लोगों के लिए जो नाइन्साफी और गलत चीजों से नफरत करते हैं, जिन्हें भुखमरी, कंगाली और बेघर होना अच्छा नहीं लगता। उन लोगों के लिए जो याद करते हैं, उन एक करोड़ बीस लाख बेरोजगारों को, जो सूनी आँखों से भविष्य की ओर टकटकी लगाये हुए थे।

आप लोगों में से उनके लिए जिन्होंने भूख से तड़पते बच्चे और दर्द से छटपटाते इनसान की आहें सुनी हैं। उन लोगों के लिए जिन्होंने बम का धमाका और टारपीडो दागे जाने की गड़गड़ाहट सुनी है। उन लोगों के लिए जिन्होंने फासीवाद के हाथों मारे गये लोगों की लाशें देखी हैं। उन लोगों के लिए जिन्होंने युद्ध को बल प्रदान किया था और उसके एवज में उन्हें परमाणु बम से मारे जाने का खतरनाक सपना हासिल हुआ था।

यह कहानी उन्हीं लोगों के लिए है। माताओं के लिए जो अपने बच्चों को मरने के बजाय जिन्दा देखना चाहेंगी। मजदूर, जो जानते हैं कि फासीवादी सबसे पहले यूनियनों को तबाह करते हैं। युद्ध से लौटे सिपाही, जो जानते हैं कि जो लोग युद्ध शुरू करते हैं वे खुद मोर्चे पर नहीं जाते। छात्र, जो जानते हैं कि ज्ञान और आजादी को अलग नहीं किया जा सकता। बुद्धिजीवी, जिनका मरना लाजिमी है, अगर फासीवाद जिन्दा रहा तो। काले लोग, जो जानते हैं कि जिम-क्रो और प्रतिक्रियावादी एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यहूदियों के लिए जिन्होंने यह हिटलर से सीखा कि वास्तव में यहूदी-विरोधी अभियान क्या होता है। और बच्चों के लिए, सभी बच्चों के लिए, हर एक रंग, हर एक नस्ल, हर एक पंथ के बच्चों के लिए-- यह कहानी उन्हीं के लिए लिखी गयी है, ताकि वे मौत के लिए नहीं, जिन्दगी के लिए आगे की ओर देखें।

यह जनता की ताकत की एक कहानी है, उनके अपने दिवस की कहानी, जिसे वे तय करते हैं और जिस दिन अपनी एकता और ताकत का उत्सव मनाते हैं। यही वह खास दिन है, उनके और हमारे लिए यह असीम गौरव की बात है कि यह अमरीकी मजदूर वर्ग की ओर से पूरी दुनिया के लिए उपहारस्वरूप था।

वे आपको नहीं बताते

...स्कूल में पढ़ाये जानेवाले इतिहास से आपने इतना तो जान लिया होगा कि मई दिवस कैसे शुरू हुआ था, लेकिन हमारे अतीत में बहुत-सी ऐसी बाते हैं जो शानदार और बहादुराना हैं, जिनको इतिहास ने बड़ी चतुराई से मिटा दिया। कहा जाता है कि मई दिवस विदेश से ली गयी कोई चीज है, लेकिन जिन लोगों ने 1886 में शिकागो में पहले मई दिवस की नींव रखी थी, उनके लिए इसमें विदेशी जैसी कोई बात नहीं थी। उन्होंने इसे देशी धागे से बुना था। मजदूरी व्यवस्था इनसानों के साथ जो बदसलूकी करती है, उसके खिलाफ गुस्से को विदेश से आयातित करने की जरूरत नहीं थी।

पहला मई दिवस 1886 में शिकागो में मनाया गया था। इसकी एक पृष्ठभूमि है, एक ऐसी तस्वीर, जिसे याद करना जरूरी है। 1886 से दस साल पहले, अमरीकी मजदूर वर्ग पैदा होने और बढ़ने की प्रक्रिया से गुजर रहा था और यह प्रक्रिया रक्तहीन नहीं थी। युवा राष्ट्र जो थोड़े समय में ही एक महासागर से दूसरे महासागर तक फैल गया था, शहर बसाये थे, मैदानी इलाकों में रेलवे का जाल फैला दिया था और दुर्गम जंगलों को काटकर साफ कर दिया था, वह अब प्रथम औद्योगिक देश बन रहा था। और ऐसा करते हुए उन्हीं लोगों पर हमलावर हो रहा था, जिन्होंने ये सारे काम किये थे, हर उस चीज का निर्माण अपने हाथों से किया था, जिसे अमरीकी कहा जाता था और अब उनके ही शरीर से जिन्दगी को निचोड़ा जा रहा था।

आदमी, औरतें और बच्चे भी अमरीकी फैक्टरियों में शब्दशः मरते दम तक खटते थे। हर रोज 12 घण्टे काम करना आम बात थी, 14 घण्टे काम करना भी काफी चलन में था और कई जगह बच्चे भी हर दिन 16 से 18 घण्टे तक काम करते थे। मजदूरी बहुत कम थी, अक्सर जिन्दगी चलाने का खर्च भी नहीं मिलता था और बार-बार आनेवाली मंदी की कड़वी निरन्तरता के चलते बड़े पैमाने पर बेरोजगारी भी शुरू हुई। निषेधाज्ञा के मार्फत सरकार चलाना आये दिन की बात थी।

लेकिन अमरीकी मजदूर वर्ग आसानी से काबू में आनेवाला नहीं था। उसने इसे स्वीकार नहीं किया, कुदरत का खेल समझकर बर्दाश्त नहीं किया; उसने लड़ाई लड़ी-- और उसने दुनिया-भर के जुझारू मजदूरों को वह पाठ पढ़ाया जिसकी अभी

तक कोई दूसरी मिसाल नहीं।

1877 में मार्टिन्स वर्ग, वेस्ट वर्जिनिया में एक रेलवे हड़ताल शुरू हुई। सेना बुलायी गयी और मजदूरों के साथ झड़प के बाद हड़ताल दबा दी गयी-- लेकिन सिर्फ स्थानीय स्तर पर, उस चिंगारी से सुलगनेवाली आग जल्दी ही विकराल लपटों में बदल गयी। बाल्टीमोर और ओहियो में हड़ताल, पेनसिल्वेनिया में हड़ताल और फिर वह एक रेलवे से दूसरे रेलवे में फैलती चली गयी, जब तक वह छोटा-सा स्थानीय उभार एक ऐसी विराट आम हड़ताल में नहीं बदल गया, जिसके बारे में उससे पहले किसी ने कभी नहीं सुना था। दूसरे उद्योगों के मजदूर भी इसमें शामिल हो गये और कई इलाकों में रेल-हड़ताल एक आम हड़ताल में बदल गयी।

पहली बार, सरकार और अफसर इस बात से वाकिफ हुए कि मजदूर की ताकत का क्या मतलब होता है। उन्होंने सैनिक बुला लिये और फिर स्थायी फौज, हर जगह जासूस लगा दिये गये। कुछ स्थानों पर छिटपुट झड़पें हुईं। सेंट लुइस में नगरपालिका अधिकारियों ने त्यागपत्र दे दिया और शहर की जिम्मेदारी मजदूर वर्ग के प्रशासन को सौंप दी। आज कोई इसका लेखा-जोखा नहीं ले सकता कि उस हिंसक विद्रोह में कितने लोग हताहत हुए थे, लेकिन जिसने भी उस घटना का अध्ययन किया, उसे इस बात में कोई सन्देह नहीं कि नुकसान बहुत ज्यादा हुआ था।

हड़ताल आखिरकार टूट गयी, लेकिन इसी दौरान अमरीकी मजदूरों ने नयी जागरूकता के साथ अंगड़ाई ली। प्रसव पीड़ा खत्म हो गयी और मजदूर वर्ग ने बचपन से जवानी की ओर यात्रा शुरू की।

अगला दशक जुझारू संघर्ष का काल था, सबसे पहले जीवित रहने की लड़ाई, जिससे संगठित होने की लड़ाई विकसित हुई। सरकार 1877 को आसानी से नहीं भूल पायी, कई अमरीकी शहरों में सैनिक छावनियों का निर्माण शुरू हुआ, मुख्य सड़कों को चौड़ा किया गया, ताकि मशीनगनों से उन पर नियंत्रण किया जा सके, एक बड़े पैमाने का मजदूर-विरोधी निजी पुलिस संगठन, पिंकरटन एजेन्सी सामने आया और मजदूरों के खिलाफ अधिकाधिक दमनकारी उपाय किये जाने लगे। लाल खतरा, जिसका 1830 के दशक से ही अमरीका में प्रोपेगेण्डा के औजार की तरह इस्तेमाल किया जा रहा था, उसका निर्माण अब एक बड़े आकार के गिरोह की तरह किया गया, जिसे आज हम देख रहे हैं।

लेकिन मजदूरों ने इन तैयारियों के प्रति काहिली नहीं बरती। द नाईट ऑफ लेबर, जो भूमिगत रूप से बनाया गया था, 1886 तक उसके 7,00,000 सदस्य थे। द यंग अमरीकन फेडरेशन ऑफ लेबर, जिसका संगठन यूनियनों के स्वैच्छिक संघ के रूप में किया गया था और जिसका एक लक्ष्य समाजवाद भी था, वह तेजी से बढ़ रहा था, जिसकी माँगें वर्ग-सचेतन, जुझारू और कठोर होती थीं। एक नये नारे का जन्म हुआ, एक नयी माँग, सुस्पष्ट और बेलागलपेट--

''आठ घण्टे काम, आठ घण्टे आराम, आठ घण्टे मनोरंजन।''

1886 तक अमरीकी मजदूर एक कद्दावर नौजवान बन चुका था, अपनी ताकत तौलने के लिए तैयार। उनके खिलाफ शस्त्रागार सुसज्जित किये गये, लेकिन वे काफी नहीं थे। पिंकरटन्स ही काफी नहीं थे, न ही मशीनगनें। संगठित मजदूर प्रयाण कर चुका था और उसका एकमात्र जुझारू नारा भी पूरे देश में गूँज रहा था--

''हर रोज आठ घण्टे काम - इससे ज्यादा नहीं!''

1886 में उन दिनों, शिकागो जुझारू वामपंथी मजदूर आन्दोलन का केन्द्र था। शिकागो में ही एक संगठित मजदूर प्रदर्शन के विचार ने जन्म लिया, उस दिन जो किसी और का नहीं, सिर्फ उनका हो, जिस दिन वे अपने काम के औजार किनारे रख दें और कंधे से कंधा मिलाकर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करें।

पहली मई को मजदूर वर्ग के दिन, जनता के दिन के रूप में चुना गया। काफी पहले ही प्रदर्शन की तैयारी करने के लिए एक आठ घण्टा संघ का गठन कर लिया गया था। यह आठ घण्टा संघ एक संयुक्त मोर्चा था जो अमरीकन फेडरेशन ऑफ लेबर, नाईट ऑफ लेबर और सोशलिस्ट मजदूर पार्टी को मिलाकर बनाया गया था। उसके साथ सेन्ट्रल लेबर यूनियन ऑफ शिकागो भी जुड़ा हुआ था, जिसमें बेहद जुझारू वामपंथी यूनियनें शामिल थीं।

शिकागो में जो शुरुआत हुई थी, वह कोई मामूली चीज नहीं थी। मई दिवस के पहले की लामबन्दी में ही 25,000 मजदूरों ने हिस्सा लिया और जब मई दिवस आया, हजारों की संख्या में शिकागो के मजदूर अपने औजार रखकर फैक्टरियों से बाहर सड़कों पर उमड़ पड़े और कतारबद्ध होकर सभा में शामिल हुए। इतना ही नहीं, सभा की शुरूआत हुई तो हजारों की संख्या में मध्यम वर्ग के लोग भी मजदूरों के साथ मिल गये और भाईचारे की यही मिसाल कई दूसरे अमरीकी शहरों में भी दुहराई गयी।

फिर, जैसा कि आज भी होता है, बड़े पूँजीपतियों ने जवाबी हमला किया-- खून-खराबा, दहशत और अदालती हत्याओं के जरिये। दो दिन बाद मैकार्मिक रीपर वर्क्स के पास, हड़ताली मजदूरों की जनसभा पर पुलिस ने हमला किया और छः मजदूर मारे गये। जब मजदूरों ने इस अकथ कारगुजारी के खिलाफ प्रतिवाद करते हुए अगले दिन हे मार्केट चौराहे पर प्रदर्शन किया, तो पुलिस ने दुबारा हमला किया। एक बम फेंका गया, जिससे कई पुलिसवाले और मजदूर मारे गये-- और हालाँकि यह कभी पता नहीं चल पाया कि बम किसने फेंका था, चार अमरीकी मजदूर नेताओं को फाँसी पर चढ़ा दिया गया। उन्हें उस जुर्म की सजा दी गयी, जो उन्होंने किया ही नहीं था और जिस आरोप के लिए वे निर्दोष साबित हो चुके थे।

इन बहादुर लोगों में से एक, अगस्ट स्पाइस जब फाँसी के तख्ते पर चढ़ा तो उसने चीखते हुए कहा--

''वह समय आयेगा जब हमारी चुप्पी

उन आवाजों से कहीं अधिक शक्तिशाली होगी, जिनका तुम गला घोंट रहे हो।''

वह बात कितनी सच थी, इसे समय ने साबित कर दिया। शिकागो ने दुनिया को मई दिवस दिया और इस बासठवें मई दिवस (1 मई 1947) को दुनिया-भर की जनता अपनी पूरी ताकत के साथ लाखों की संख्या में जगह-जगह एकत्रित हो रही है। यह अगस्ट स्पाइस के पूर्वानुमान को सही साबित करता है।

शिकागो प्रदर्शन के तीन साल बाद ही दुनिया-भर के मजदूर नेता पेरिस में बास्तीय के पतन की सौवीं वर्षगाँठ मनाने के लिए जमा हुए। वहाँ एक-एककर सभी राष्ट्रों के नेताओं ने भाषण दिया।

अन्त में अमरीकियों की बारी आयी। जो मजदूर हमारे यहाँ के मजदूर वर्ग की नुमाइन्दगी कर रहा था, वह उठा। उसने सीधी सरल और बेलाग-लपेट भाषा में आठ घण्टे कार्य दिवस की लड़ाई की कहानी सुनायी, जिसकी चरम परिणती 1886 में हे मार्केट में हुई थी।

उसने हिंसा, खून-खराबा और बहादुरीपूर्ण बलिदान की ऐसी तस्वीर खींची, जिसे वहाँ आये प्रतिनिधियों ने बाद में वर्षों तक याद रखा। उसने बताया कि किस तरह पार्सन्स ने मौत को गले लगाया, जबकि उसे यह प्रस्ताव दिया गया था कि यदि वह अपने साथियों से खुद को अलग कर ले और माफी माँग ले, तो उसे जीवनदान दिया जायेगा। उसने बताया कि किस तरह पेनसिल्वेनिया के दस निर्दोष आयरिश खादान मजदूरों को फाँसी दी गयी क्योंकि उन लोगों ने संगठित होने के अपने अधिकार की लड़ाई लड़ी थी। उसने सशस्त्र पिंकरटन्स के साथ मजदूरों की पूरी लड़ाई का विस्तार से वर्णन किया और उसने संघर्ष की काफी सारी बातें बतायीं।

जब उसने अपनी बात खत्म की तो पेरिस काँग्रेस ने निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया-- *''काँग्रेस एक विराट अन्तरराष्ट्रीय प्रदर्शन आयोजित करने का फैसला लेती है, ताकि एक निर्धारित दिन को सभी देशों और सभी शहरों में मेहनतकश जनता सरकारी अधिकारियों से आठ घण्टे कार्य दिवस की अपनी कानूनी माँग के लिए आवाज उठाये और साथ ही पेरिस काँग्रेस के दूसरे निर्णयों को भी क्रियान्वित करे। चूँकि एक ऐसे ही प्रदर्शन के लिए अमरीकन फेडरेशन ऑफ लेबर ने पहले ही 1 मई 1890 का दिन निर्धारित किया है, इसलिए हम उसी तारीख को अन्तरराष्ट्रीय प्रदर्शन के लिए स्वीकार करते हैं। विभिन्न देशों के मजदूर अपने-अपने देशों की परिस्थिति के अनुरूप उस दिन अवश्य प्रदर्शन आयोजित करें।''*

फिर ऐसा ही किया गया और आज मई दिवस पूरी दुनिया के लिए है। अच्छी चीजें किसी एक व्यक्ति या राष्ट्र की नहीं हुआ करतीं। जैसे-जैसे एक-एककर सभी देशों के मजदूर मई दिवस को अपनी जिन्दगी, अपने संघर्ष और अपनी आशाओं के रूप में आत्मसात करते गये, वे यह मानने लगे कि मई दिवस उनका अपना दिन है-- और यह सही भी है, क्योंकि धरती पर जितने भी राष्ट्र हैं, निश्चित तौर पर अमरीका उन सभी राष्ट्रों का राष्ट्र है, सभी देशों की जनता और सभी संस्कृतियों का संगम।

मई दिवस इस वर्ष

अतीत के मई दिवस प्रकाश स्तम्भ की तरह आधी सदी के संघर्षों को रौशन करते रहे हैं। इस सदी के शुरुआती वर्षों में आयोजित मई दिवस पर ही मजदूर वर्ग ने साम्राज्यवादी विस्तारवाद की पहली बार निन्दा की थी। मई दिवस के अवसर पर ही नवजात समाजवादी राज-- सोवियत संघ के समर्थन में मजदूरों ने अभियान चलाया था। मई दिवस पर ही हमने अपनी पूरी ताकत के साथ असंगठित लोगों के संगठन का उत्सव मनाया था।

लेकिन अतीत में किसी भी मई दिवस पर इतने अनिष्टकारी और फिर भी इतने आशाजनक भविष्य से हमारा सामना नहीं हुआ था, जैसा इस मई दिवस का शुभारम्भ करते हुए हुआ। इससे पहले कभी जीतने के लिए इतना कुछ नहीं था, कभी हारने के लिए इतना कुछ नहीं था।

आज लोगों का बोलना आसान नहीं। लोगों के पास अखबारों का मालिकाना नहीं है, कोई मंच नहीं है और न ही सरकार में हमारे प्रतिनिधियों की बहुसंख्या ही जनता की सेवा करती है। रेडियो पर आम जनता का मालिकाना नहीं है और न ही सिनेमा उनके हैं। इन पर बड़े एकाधिकारी पूँजीपतियों का नियंत्रण कायम है, अच्छी तरह नियंत्रण कायम है लेकिन जनता पर किसी का भी एकाधिकार नहीं है।

जनता की अपनी ताकत ही उनकी अपनी है और मई दिवस उनके लिए अपनी ताकत दिखाने का दिन है।

जुलूस में शामिल लाखों लोगों की तेज आवाज सुनाई दे रही है। समय आ गया है कि जो लोग अमरीका को फासीवाद के हवाले करना चाहते हैं वे इस आवाज को सुन लें।

हमारे लिए यही समय है उन्हें बताने का कि वास्तविक मजदूरी पचास फीसदी छीज गयी है, कि हमारे बर्तन-डिब्बे खाली हैं, कि यहाँ अमरीका में अधिकाधिक लोग भूख की चुभन महसूस कर रहे हैं।

यही समय है मजदूर विरोधी कानून के खिलाफ आवाज उठाने का, दो सौ से भी ज्यादा मजदूर विरोधी कानून संसद में रखे जानेवाले हैं-- ऐसे कानून, जो मजदूरों को कुचलने के लिए उसी तरह मैदान साफ कर देंगे, जिस तरह हिटलर ने जर्मन मजदूरों को कुचला था।

यह अमरीका के संगठित मजदूरों के लिए इस सच के प्रति जागरूक होने का समय है-- इस निराशाजनक अन्तिम घड़ी में मजदूर एकता की जरूरत-- इसके पहले कि देर हो जाये और संगठित मजदूरों का एकजुट रह पाना असम्भव हो जाये।

आपने यहाँ हर रोज बारह से सोलह घण्टे खटनेवाले लोगों की कहानी पढ़ी, आतंक और निषेधाज्ञा से चलनेवाली सरकार की कहानी पढ़ी।

जो लोग मजदूरों को कुचलना चाहते हैं उनका यही लक्ष्य है। वे उन्हीं पुराने दिनों

को वापस लाना चाहते हैं, जैसा कि युनाइटेड माइन वर्करों के मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय के फैसले से साबित हो चुका है। मई दिवस के जुलूस में शामिल होकर अब हम उनको करारा जवाब देंगे।

यही समय है, युनान, तुर्की और चीन में अमरीकी साम्राज्य के हस्तक्षेप के आह्वान का मतलब समझने का। साम्राज्य की क्या कीमत चुकानी पड़ती है? जो लोग दुनिया पर शासन करके दुनिया की हिफाजत करने के लिए अमरीका के पक्ष में चीख रहे हैं, वे यह भी जान लें कि दूसरे साम्राज्यों का क्या हश्र हुआ! वे युद्ध की कीमत का लेखा-जोखा ले लें-- कितनी जानें गयीं, कितनी सम्पत्ति का नाश हुआ।

यही समय है यह समझने का कि कम्युनिस्टों के खिलाफ धड़-पकड़ और उनकी हत्या का क्या मतलब है! क्या आज तक कोई ऐसा देश रहा है, जहाँ फासीवाद आने से पहले कम्युनिस्ट पार्टी को गैर-कानूनी घोषित न किया गया हो? क्या आज तक कोई ऐसा देश रहा है, जहाँ कम्युनिस्टों से निपटने के ठीक बाद मजदूर यूनियनों को न कुचला गया हो?

यही समय है कि हम चीजों की कीमत के प्रति जागरूक हों। कम्युनिस्टों के दमन की कीमत संगठित मजदूरों की तबाही है-- और उसकी कीमत फासीवाद है। और आज क्या कोई ऐसा भी व्यक्ति है जो नहीं जानता कि फासीवाद की कीमत है मौत?

लगभग सौ वर्षों से संगठित मजदूर ही अमरीकी लोकतंत्र की रीढ़ रहा है। अब, दुष्ट और अमंगलकारी शक्तियों ने तय कर लिया है कि संगठित मजदूर को तबाह करना जरूरी है।

मई दिवस इस देश के सभी मुक्ति-कामी नागरिकों के लिए प्रतिक्रियावादियों को जवाब देने का समय है। लाखों लोगों के जुलूस की आवाज बहुत ऊँची होती है! मई दिवस के प्रदर्शन में हमारे साथ शामिल हों और मौत के सौदागरों को अपना करारा जवाब दें।

(अनुवाद : दिगम्बर)

तुम खुद पर एक एहसान करो और अपनी जमीन मुझे दे दो

–मानस चक्रवर्ती

देखो, भाई, क्या तुम सचमुच एक छोटा किसान बन जाना चाहते हो? नहीं, यह एक शब्दजाल भरा सवाल नहीं है। जरा इस बारे में सोचो। क्या सचमुच तुम्हें अपनी उस रूमाल भर जमीन पर कमरतोड़ मेहनत और घाटेवाला पेशा करने में मजा आता है? तुम्हें अपनी सारी कोशिशों के बदले क्या मिलता है? बहुत ही मामूली, मेरे दोस्त।

और उतनी आमदनी होना भी पक्का नहीं है। तुम दिन रात हाड़-तोड़ मेहनत करते हो, कितना अधिक जोखिम मोल लेते हो, बीज और खाद खरीदने के लिए कुछ हजार रुपए की खातिर गाँव के साहूकार की खुशामद करते हो और एक मनहूस सुबह उठकर क्या देखते हो कि ओला गिरने से तुम्हारी सारी फसल चौपट हो गयी। या मुसलाधार बारिस में तुम्हारी सारी फसल बह गयी। या बाढ़ आ गयी। या फसल की कीमत गिर गयी और तुम लागत भी नहीं निकाल पाये। तब तुम क्या करोगे? कीटनाशक पीकर खुद को मार डालोगे? अपनी बीबी और बच्चों को सूदखोर के रहमो-करम पर छोड़ दोगे?

गहराई से सोचो भाई, इन बातों में क्या धरा है? पूरी जिन्दगी बकवासबाजी में बिताने के बावजूद क्या मिलता है? मॉल नहीं, शॉपिंग नहीं, बमुश्किल कोई मनबहलाव, यह कुत्ते की जिन्दगी है, यार। आजकल के बच्चे अगर किसान होना नहीं चाहते तो इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं। तुम्हारे बच्चे होशियार हैं, उन्हें शहरों की चमक-दमक पसन्द है। और अपनी बदकिस्मत खेती से चिपके रहकर तुम उन्हें घिनौनी जिन्दगी की ओर धकेल रहे हो। जब वे बड़े होंगे तब क्या होगा, भाई। क्या तुम अपनी जमीन के छोटे से टुकड़े के और छोटे-छोटे टुकड़े करके उनके बीच बाँट दोगे? इस धरती पर वे गुजारा कैसे कर पायेंगे? इसलिए देखो भाई, तुम्हारे बारे में सोच के मेरे दिल में बहुत तकलीफ होती है, और सच पूछो तो तुम्हारी जमीन का अनिवार्य अधिग्रहण करके मैं तुम्हारे ऊपर उपकार कर रहा हूँ। तुम किसानों की सहायता का सबसे बढ़िया तरीका यही है कि तुम्हारी जमीन तुमसे छीन ली जाय।

इतना ही नहीं, चूँकि मैं तुम लोगों से प्यार करता हूँ, इसलिए तुम्हें बाजार भाव का चार गुना दाम दे रहा हूँ। हाँ, यकीनन, यह हो सकता है कि बाजार भाव के बारे में तुम्हारी राय मेरी राय से मेल न खाये, लेकिन तुमको जो कीमत मिले, उसे धर लो। तुम्हारी जमीन पर हम स्मार्ट सिटी और चौड़ी सड़कें और चमचमाती गगनचुम्बी इमारतें और जगमग करती नयी फैक्टरियाँ बनाने जा रहे हैं और इस पर तुम्हें गर्व होना चाहिए। हाँ, विशेष आर्थिक क्षेत्र और औद्योगिक पार्क में हमारी बहुत सारी जमीनें खाली पड़ी हैं, लेकिन मैं और ज्यादा जमीन चाहता हूँ।

तो अब अपने सबसे करीबी शहर के लिए रेल में बैठो, किसी झोपड़पट्टी में एक सस्ता कमरा किराये पर लो और कोई काम पकड़ लो। अरे भाई, वहाँ बिजली और ताजा पानी भी होगा। तुम्हारे गाँव के कुछ लोग पहले से ही वहाँ होंगे, खूब मजे में लिफ्ट मैन, चौकीदार, ड्राइवर और नौकर-नौकरानी का काम करते हुए। क्यों न तुम भवन निर्माण मजदूर का काम करो और स्मार्ट सिटी बनाने में सहायता करो? या, अगर तुम बेवकूफी में खेती ही करते रहना चाहते हो, तो किसी धनी किसान के यहाँ जाकर उसकी खेत में काम करो। और हाँ, तुम नेता भी तो बन सकते हो।

भाई, हमारे यहाँ छोटी, अनुत्पादक खेती में लगे बहुत सारे किसान हैं। वे लोग देश के विकास को बाधित कर रहे हैं। दूसरे राष्ट्र तभी विकसित हुए, जब वहाँ के लोग खेती छोड़कर उस उद्योग क्षेत्र में नौकरी करने लगे जिसकी उत्पादकता कहीं ऊँची है। इसलिए हमें विकास के खातिर तुम्हारी जमीन की जरूरत है। सभी अर्थशास्त्री मुझे यही बताते हैं। जाहिर है कि तुम विकास की राह में रोड़ा तो नहीं अटकाओगे? मुझे उम्मीद है कि अब तुम यह बात अच्छी तरह समझ गये होगे कि बिना तुम्हारी सहमति के तुमसे जमीन छीनकर मैं किसानों के हित में सबसे उत्तम कार्य कर रहा हूँ। जय किसान। **(अंग्रेजी दैनिक हिन्दुस्तान टाइम्स में प्रकाशित)**

कोयला मजदूरों की हड़ताल

पिछले नवम्बर में कोयला मजदूरों की हड़ताल 1974 की रेलवे हड़ताल के बाद देश के किसी भी उद्योग में मजदूरों की हिस्सेदारी के लिहाज से सबसे बड़ी कार्रवाई रही है। मुख्यधारा की सभी पाँच यूनियनों ने कोयला क्षेत्र के निजीकरण का विरोध करते हुए 10 सूत्री संयुक्त माँग के साथ पाँच दिन की हड़ताल का आह्वान किया था। इसमें विशेष रूप से हाल ही में जारी उस कोयला खादान (विशेष प्रावधान) अधिनियम/कानून 2014 पर जोर दिया गया, जिसका मकसद कोयला ब्लॉक के आवंटन को आसान बनाना है। हड़ताल दो दिन बाद ही सिर्फ सरकार के इस आश्वासन पर वापस ले ली गयी कि वह ट्रेड यूनियन नेताओं, सरकारी अधिकारियों और कोल इण्डिया लिमिटेड के प्रतिनिधियों को मिलाकर एक कमेटी गठित करेगी, जो मजदूरों की समस्याओं पर विचार करेगी। इसके साथ ही नेताओं ने यह आश्वासन दिया कि हड़ताल के दौरान जो नुकसान हुआ है, उसकी भरपाई की जायेगी और बदले में अधिकारी किसी भी हड़ताली मजदूर को परेशान नहीं करेंगे।

यह पूरा प्रकरण आज की परिस्थिति में मजदूरों के संघर्ष से जुड़े कई महत्त्वपूर्ण पहलुओं को सामने लाता है, जिनमें से एक विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। खनिकों ने अपने संगठनों और कार्य-दशाओं में भिन्नता के बावजूद अपने केन्द्रीय नेताओं की ओर से किये गये बहुप्रतीक्षित सीधी कार्रवाई के आह्वान का स्वागत किया। कौन किस यूनियन से है, इसकी परवाह किये बिना मजदूरों ने बड़े पैमाने पर हड़ताल में हिस्सेदारी की। मीडिया के माध्यम से पता चला कि सराकर द्वारा संचालित कोल इण्डिया लिमिटेड की 432 में से 290 खादान हड़ताल के कारण बन्द रहीं, जिसे पिछले 4 दशकों की सबसे बड़ी औद्योगिक कार्रवाई बताया जा रहा है, जबकि देश-भर की कई अन्य खादान भी इस हड़ताल से प्रभावित हुई (टाइम्स ऑफ इण्डिया)। जिस समय हड़ताल खत्म हुई उस समय बिजली की कमी आसन्न थी। खनिकों ने इस हकीकत का इजहार किया कि निजीकरण की मार से उनकी हालत कितनी खराब हो गयी है। साथ ही उन्होंने यह भी दिखा दिया कि हड़ताल की कार्रवाई में उनकी एकता ने किस तरह सफल प्रतिरोध की सम्भावना को सच्चाई में बदल दिया। कोयला मजदूर आज एक ऐसी परिस्थिति में हैं कि या तो उन्हें जवाबी हमला करना होगा या जो कुछ उन्होंने पाया है उसे गँवना पड़ेगा। यह परिस्थिति अचानक पैदा नहीं हुई है, बल्कि वैश्विक साम्राज्यवाद और उनके संश्रयकारी भारतीय शासकों द्वारा एक दशक से भी अधिक समय से योजनाबद्ध तरीके से इस परिस्थिति को तैयार किया गया।

विश्व बैंक रिपोर्ट 2002 में अटल बिहारी वाजपेयी के प्रधानमंत्रित्व में उस समय के भाजपा गठबन्धन द्वारा की गयी यह टिप्पणी खुद ही उनकी मंशा भाँपने के लिए काफी है-- *''बैंक के साथ किया गया करार केवल यह प्रावधान देता है कि कोयला खादान (राष्ट्रीयकरण) कानून को बदलने के लिए संसद में कानून लाया जाय और यह काम पूरा हो चुका है।''*(पृष्ठ 16) विश्व बैंक आगे व्याख्यायित करता है-- *''अब यह स्पष्ट है कि सरकार उस स्तर की आम सहमति कायम करने में असमर्थ थी जितना इस कानून पर विचार करने और तय समय सीमा के अधीन सुधार लागू करने के लिए जरूरी था।''* अपनी तरफ से सरकार ने खण्ड 9 (बी) में टिप्पणी की कि *''भारत जैसे बड़े लोकतंत्र में किसी बड़े सामाजिक उभार के खतरे से बचते हुए कोई भी आमूल सुधार लागू करना एक नाजुक काम है... हालाँकि हम यह स्वीकार करते हैं कि लक्ष्य प्राप्ति में देरी हुई लेकिन सुधार की दिशा सही है और कर्ज पर रोक के बावजूद सरकार कोयला क्षेत्र में सुधार के लिए वचनबद्ध है। यह तथ्य कि सराकर ने दिसम्बर 2001 में कोयला खादानों में तीन दिन की राष्ट्रीय हड़ताल का सामना करने को चुना, बजाय इसके कि ट्रेड यूनियनों की माँग के आगे झुक जाये और संसद में बदलाव कानून वापस ले ले। यह इस बात का प्रमाण है कि सरकार कोयला क्षेत्र सुधार के लिए वचनबद्ध है और आगे बढ़ने के लिए कृतसंकल्प है।''* सरकार की ये टिप्पणियाँ एक दृढ़ संकेत प्रस्तुत करती हैं कि यह परियोजना, कोयला क्षेत्र सुधार के मार्ग पर आगे बढ़ने की दिशा में सरकार के चिन्तन और वचनबद्धता में काफी प्रगति हुई है, भले ही जिस समय परियोजना स्वीकृति हुई थी उस समय जिनती उम्मीद थी, उससे धीमी गति से आगे बढ़ी और इसे लागू करने के लिए पर्याप्त प्रगति नहीं हुई। (पृष्ठ 20) (रिपोर्ट संख्या 23743, 28 मई, 2002 को कोयला क्षेत्र पुनर्वास परियोजना के लिए भारत को 5.32 करोड़ डॉलर का कर्ज देने के बारे में।)

इस तरह कोयला 'सुधार' काफी पहले शुरू हो गया था। इसका इतिहास पिछले दशकों के दौरान सभी सरकारों के कार्यकाल में सार्वजनिक क्षेत्र के खनन उद्योग का लगातार गला घोंटने को चिन्हित करता रहा है। नेताओं/गुण्डा गिरोहों द्वारा गैर कानूनी खनन तेजी से बढ़ा तथा मनमोहन सिंह/चिदम्बरम सरकार के साथ साँठ-गाँठ करके खनन के नये ब्लॉक हासिल करने में निजी पूँजी का स्वार्थ इतना विकट भ्रष्टाचार बन गया कि अकाट्य तथ्यों के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय को इसे गैर कानूनी प्रक्रिया

घोषित करना पड़ा। और ''मुक्त बाजार'' की चोरी और भ्रष्टाचार के साथ-साथ खनिकों के संगठनों को जितना सम्भव हो सके, कमजोर बनाने के उपाय भी किये गये।

कोयला क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र के तीन उद्यम हैं-- कोल इण्डिया लिमिटेड (सीआईएल), सिंगरेनी कोलियरीज कम्पनी लिमिटेड (एससीसीएल) और निवेली लिगनाइट कॉरपोरेशन (एनएलसी)। इनमें से सीआईएल अपनी आठ सहायक कम्पनियों के साथ मिलकर 80 प्रतिशत कोयला उत्पादन करती है। 2002-03 में इस कम्पनी में औसतन 5,10,671 कर्मचारी थे जो 2013-14 में घटकर 3,52,282 रह गये, यानी 31 प्रतिशत कर्मचारियों की छंटनी का लक्ष्य हासिल हो गया। कम्पनी बड़े पैमाने पर बाहरी ठेकेदारी के जरिये काम करवाती है। कोल इण्डिया का ठेके पर काम करवाने का खर्च 2013-14 में 7,812.71 करोड़ रुपये था जो 2010-11 की तुलना में 48 प्रतिशत अधिक था।

ठेके पर काम की बढ़ती प्रवृत्ति के पीछे मजदूर यूनियनों की ताकत को कमजोर करना है। इस ताजा हड़ताल के दौरान एक व्यापार समाचार पत्र ने डींग हाँकते हुए लिखा था-- कोल इण्डिया लिमिटेड के कर्मचारी पाँच दिन की राष्ट्रव्यापी हड़ताल कर रहे हैं, फिर भी देश की सबसे बड़ी कोयला उत्पादन कम्पनी साउथ ईस्टर्न कोलफील्ड लिमिटेड में बाहर से काम करवाने की प्रथा ने काफी राहत दी है।'' कम्पनी के एक बड़े अधिकारी ने बिजनेस स्टैण्डर्ड को बताया कि *''कम्पनी ने कोयला उत्पादन का अधिकांश काम निजी कम्पनियों को सौंप दिया है, जिससे स्थायी कर्मचारियों के हड़ताल पर जाने के बावजूद उत्पादन जारी है।''* लेकिन इसी के साथ उस अधिकारी ने संशयवादी टिप्पणी भी की --*''यह ठीक है कि हम ठेके पर काम करवा लेंगे, जैसा कि हम कर भी रहे हैं लेकिन यदि हड़ताल पाँच दिन से अधिक चली तो काम जारी रखना सम्भव नहीं होगा।''*

कोल इण्डिया लिमिटेड की उच्च स्तरीय कमेटी की संस्तुति में यह कहानी बहुत खोलकर बतायी गयी है-- जमीनी सच्चाई को आसनसोल-दुर्गापुर ठीका श्रमिक अधिकार यूनियन नामक ठेका मजदूर यूनियन के प्रचार साहित्य में देखी जा सकती है-- *''ठेका मजदूरों के जरिये कोयले का उत्पादन दिनोंदिन बढ़ रहा है। इसके चलते बाहरी काम से कोल इण्डिया का उत्पादन, जो 2004-05 में 40 प्रतिशत था वह 2012-13 में बढ़कर 60 प्रतिशत हो गया। इस्टर्न कोलफिल्ड लिमिटेड में भूमिगत कोलियरी ऊपरी कोलियरी और कार्यालयों में काम करनेवाले ठेका मजदूरों और सुरक्षाकर्मियों की संख्या 20,000 है।''*

मुख्यधारा की मीडिया ने हड़ताल के प्रति बहुत ही सावधानी का रुख अपनाया। इसने प्रभावशाली मजदूर वर्ग की एकता के इजहार को कम से कम जगह देना पसन्द किया। उन्होंने कोयलांचल का भ्रष्टाचार और अपराध से भरपूर चित्र प्रस्तुत किया और इन परिस्थितियों के लिए उस इलाके के स्थानीय चरित्र, यानी खुद खनिकों के संस्कार को जिम्मेदार ठहराया। यह पूरी तरह बकवास है। बेलगाम अपराध और भ्रष्टाचार, बेलगाम ''मुक्त बाजार'' की पैदावार है। एण्ड्रयू सान्चेज का हाल ही में किया गया अध्ययन इसका खुलासा करता है--*''यह गतिकी (मुक्त बाजार) भारत के औद्योगिक क्षेत्र में जारी उदारीकरण के दौरान खुद को दुहरा रही है, जहाँ भ्रष्टाचार और अपराध न केवल एक-दूसरे को बढ़ावा दे रहे हैं बल्कि पूँजीवादी स्वार्थों के सुदृढ़ीकरण में केन्द्रीय भूमिका निभा रहे हैं, चाहे वह रोजमर्रे की कर्ज वसूली के दौरान हिंसा के रूप में हो या उद्योग में सामूहिक विरोध के दमन के रूप में... मीडिया में उनका जिस तरह चित्रण किया जाता है, उसके विपरीत झारखण्ड इलाके के धूल भरे शहरों में जो गुण्डा गिरोह सक्रिय हैं, वे बिली द किड्स (विलावजह हिंसा करनेवाले) नहीं हैं। इसके बजाय वे हिंसक उद्यमी हैं, जिनकी सफलता संस्थानों के भ्रष्ट अधिकारियों के साथ गहरे रिश्तों पर निर्भर करती है।''* (''कैपिटलिज्म, वायलेन्स एण्ड द स्टेट क्राइम, करप्शन एण्ड इन्टरप्रेन्योरशिप इन एन इण्डियन कम्पनी टाउन,'' जनरल ऑफ लीगल एन्थ्रोपेलोजी (2010) खण्ड-1, अंक-2, 165-188)

भारत की कुल ऊर्जा जरूरत का लगभग 63 प्रतिशत भाग कोयले से पूरा होता है। इस्पाल, सीमेन्ट और कच्चा लोहा के उद्योग कोयला पर निर्भर करते हैं। इसलिए कोयला खान मजदूरों की रणनीतिक शक्ति और महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। खान मजदूरों द्वारा प्रभावशाली एकजुटता के प्रदर्शन से निश्चय ही बहुतेरे लोगों के दिमाग में यह धारणा बनी है कि इन खान मजदूरों के साथ रेलवे जैसे शहरी उद्यमों के मजदूरों का संयुक्त संघर्ष समूचे राजनीतिक रणक्षेत्र को बदल सकता है। और संयुक्त संघर्ष के कई समान मुद्दे हैं-- उदाहरण के लिए ठेका मजदूरी का खात्मा। अब स्थायी मजदूरों को भी अहसास हो गया होगा कि हर जगह उनका संख्या बल लगातार कम हो रहा है और भविष्य में उनके लिए जो कुछ सुविधाएँ हासिल हैं, उन्हें बरकरार रखने की असरदार लड़ाई लड़ना भी कठिन होगा। दो दिन की हड़ताल में जुझारूपन के साथ बड़े पैमाने पर हिस्सेदारी सभी मजदूर वर्गीय कार्यकर्ताओं का मनोबल बढ़ायेगी। अगली जिम्मेदारी यह है कि हड़ताल से जो उत्साह पैदा हुआ है उसे विभिन्न तरह के मजदूरों --स्थायी, ठेका, बौद्धिक श्रमिक जो विभिन्न क्षेत्रों में काम करते हैं, उनकी एकता बढ़ाकर रोजमर्रे की सामूहिक कार्रवाइयों में बदल दिया जाय। उन वामपंथी बुद्धिजीवियों को जो नयी सरकार के आत्मविश्वास के बारे में मीडिया द्वारा फैलाये गये विभ्रम के शिकार हैं, यह याद दिलाना जरूरी है कि भारतीय औद्योगिक मजदूर वर्ग जो दशकों से किये जा रहे ''सुधार'' का निर्मम दबाव झेल रहा है, उसमें आज भी प्रतिरोध की, साहस और संघर्ष की भावना मौजूद है।

(*एनालिटिकल मन्थली रिव्यू* के जनवरी 2015 अंक के सम्पादकीय का आभार सहित अनुवाद और प्रकाशन।)

कनहर की कहानी

-अंशु मालवीय

20 अप्रैल 2015 को 'कनहर बचाओ आन्दोलन' के वरिष्ठ कार्यकर्ता गम्भीरा प्रसाद को सोनभद्र पुलिस ने इलाहाबाद में गिरफ्तार कर लिया। वे इलाहाबाद उच्च न्यायालय में आन्दोलन की तरफ से चल रहे मुकदमें की पैरवी के लिए एडवोकेट रवि किरन जैन के घर आये थे। जिस तरह अचानक उन्हें गिरफ्तार किया गया उसे देखते हुए लगता है कि अगर वहाँ जनता न इकट्ठी होती और प्रेस, वकील और स्थानीय नेताओं को सूचना न मिल पाती तो बहुत मुश्किल था कि गम्भीरा प्रसाद बच पाते। दबाव में रात 12 बजे गम्भीरा प्रसाद को कैंट स्टेशन इलाहाबाद में प्रस्तुत किया गया और फिर वहाँ रजिस्टर में दर्ज करके उन्हें सोनभद्र भेज दिया गया। रजिस्टर में क्या दर्ज हुआ ये पीयूसीएल के स्थानीय कार्यकर्ता चाहकर भी इलाहाबाद पुलिस से नहीं निकलवा सके। सोनभद्र में गम्भीरा प्रसाद को पुलिस रिमांड में नहीं लिया जा सका और उन्हें न्यायिक रिमांड में जेल भेज दिया गया।

'कनहर बचाओ आन्दोलन' को समझने से पहले यह जरूरी है कि एक बार इसके इतिहास पर नजर डाल ली जाय। कनहर बाँध परियोजना उत्तर प्रदेश के सोनभद्र जिले में कनहर नदी पर प्रस्तावित बहुद्देशीय सिंचाई परियोजना है। यह परियोजना विस्थापन, विभीषिका और एक बहुत बड़े आर्थिक घोटाले की कहानी अपने में समेटे हुए है। आइये, क्रमवार इस कहानी को समझते हैं।

विकास की विभीषिका

सोनभद्र जिला भारत के विकास के उस मॉडल का शिकार है जिसे आजादी के बाद अपनाया गया। देश के औद्योगिक नक्शे पर सोनभद्र की हैसियत तो बड़ी हो गयी लेकिन यहाँ के लोगों का जीवन नारकीय होता चला गया। यह उत्तर प्रदेश का सबसे बड़ा जिला है। जिसका क्षेत्रफल 6,788 वर्ग किमी है। जिसमें 3,792 वर्ग किमी इलाका जंगल से घिरा है। इसकी सीमाएँ उत्तर पूर्व में बिहार, पूर्व में झारखण्ड, दक्षिण में छत्तीसगढ़ और पश्चिम में मध्य प्रदेश से मिलती हैं। यहाँ 70 प्रतिशत आदिवासी आबादी है, जिसमें गोंड, खरवार, पन्निका, भूइयाँ, बैगा, चेरो, घासिया, धरकार और धौनार शामिल हैं। अधिकतर ग्रामीण आदिवासी अपनी जीविका के लिए जंगलों पर निर्भर हैं। वे जंगल से तेंदू पत्ता, सूखी लकड़ियाँ, शहद और जड़ी बूटियाँ इकट्ठाकर उन्हें बाजार में बेचते हैं। कुछ के पास छोटी जोतें भी हैं जिसमें ज्यादातर धान और कभी-कभी सब्जियाँ पैदा की जाती हैं। बड़ी जोतें ज्यादातर गैर आदिवासियों के पास हैं। इस इलाके में रहनेवाले बहुत से आदिवासियों को रिजर्व फॉरेस्ट एक्ट के अनुच्छेद 4 और 20 ने उनकी जमीन और वनाधिकार से वंचित कर रखा है। रिजर्व फॉरेस्ट एक्ट की वजह से बहुत से लोगों पर फर्जी मुकदमें लाद दिये गये हैं।

जहाँ जंगल है, जहाँ आदिवासी हैं देश का विकास वहीं की सम्पदा को लूटकर किया जा सकता है, विकास की यही सामान्य समझ है। रिहन्द बाँध का उद्घाटन करते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने यह उम्मीद जतायी थी कि बिजली परियोजना के शुरू होने के बाद यहाँ जो विकास होगा उससे यह इलाका स्विट्जरलैण्ड जैसा बन जायेगा लेकिन अपार प्राकृतिक वैभव के बाद भी यह इलाका और यहाँ के लोग गरीबी और प्रदूषण की मार झेल रहे हैं। बिड़ला द्वारा स्थापित रेणुकूट का हिंडालको, हाईटेक कार्बन प्लांट, अनपरा में रेणु सागर विद्युत संयंत्र इसके अलावा एनटीपीसी द्वारा स्थापित शक्तिनगर और बीजपुर के ताप विद्युत गृह तथा केन्द्र सरकार के नियंत्रणवाली कोयला खदानें बीना, खड़िया, दुग्धी चुआ और ककरी में हैं, यानी सोनभद्र का चप्पा-चप्पा कई दशकों से डाइनामाइट के विस्फोटों, भारी मशीनों की गड़गड़ाहटों, धूल, धुएँ, राख और विस्थापन से काँप रहा है, घुट रहा है।

आज सोनभद्र-सिंगरौली के इलाके में हालत यह है कि नदियों और तालाबों के बाद अब भूजल भी जहरीला होता जा रहा है। इस अंचल की तीन प्रमुख नदियाँ रिहन्द, सोन और कनहर का पानी बुरी तरह विषाक्त हो चुका है। 2011 में सोनभद्र जिले के म्योरपुर ब्लॉक के रजनी टोला गाँव में भूजल में प्रदूषण का स्तर इतना बढ़ गया कि पेट की विभिन्न बीमारियों के चलते 15 बच्चों की मौत हो गयी थी। सोनभद्र में जो तथाकथित विकास हुआ उसका लाभ भी विकसित लोगों को ही मिला। यहाँ की स्थानीय आबादी को सिर्फ विस्थापन, कम मजदूरी, प्रदूषण और बीमारी मिली। तो यही वह परिदृश्य है जिसमें रहकर हम कनहर बाँध की कहानी को समझ सकते हैं। सत्तर के दशक से सोनभद्र के निवासियों पर तलवार की तरह लटकी यह परियोजना अब नये सिरे से गाँव, जंगल, पहाड़ और इनसान के लिए डूब और विस्थापन का सन्देश लेकर आयी है।

कनहर बाँध की अजीब दास्तान

कनहर बहुद्देशीय परियोजना की कहानी शुरू होती है 6 जनवरी 1976 से जब तत्कालीन मुख्यमंत्री नारायण दत्त तिवारी ने इस परियोजना का शिलान्यास किया था। सोन की सहायक नदी कनहर और पागन के संगम पर बननेवाली इस परियोजना का असर उत्तर प्रदेश के सोनभद्र, छत्तीसगढ़ के सरगुजा और झारखण्ड के गढ़वा जिले पर पड़ना है। अगर यह बाँध बनता है तो सोनभद्र के चौदह गाँव प्रभावित होंगे। एक अनुमान के अनुसार छत्तीसगढ़ और झारखण्ड के भी कई गाँव इससे डूब जायेंगे। कुल डूब क्षेत्र 4000 हेक्टेयर से ज्यादा होगा और 10,000 से ज्यादा किसान उजड़ जायेंगे। 25 से ज्यादा गाँव और तकरीबन एक से डेढ़ लाख ग्रामीण आबादी अपनी पुश्तैनी जमीन से हमेशा के लिए उजड़ जायेगी।

कनहर बहुद्देशीय परियोजना को सितम्बर 1976 में केन्द्रीय जल आयोग की अनुमति मिली और इसकी प्रारम्भिक अनुमानित लागत 27 करोड़ रुपये आँकी गयी। 1979 में इसे 55 करोड़ रुपये के साथ-साथ तकनीकी अनुमति मिली। मध्य प्रदेश (अब छत्तीसगढ़), बिहार और उत्तर प्रदेश के बीच पानी और डूब क्षेत्र को लेकर चलनेवाले विवादों को अनदेखा कर परियोजना को अनुमति दी गयी। बाद में जब प्रदेशों में पर्यावरण मंत्रालय की स्थापना हुई तो इन मंत्रालयों ने इस इलाके में होनेवाले भयानक नुकसान की आशंका को नजर अन्दाज किया और ऐसा कोई सर्वेक्षण नहीं कराया गया जो परियोजना द्वारा पर्यावरण और आबादी पर पड़नेवाले दुष्प्रभाव का ठीक-ठीक आकलन कर सके। एक शुरुआती अध्ययन में यह अनुमान लगाया गया कि तकरीबन 9 लाख पेड़, 2500 कच्चे घर, 200 पक्के घर, 500 कुएँ, 30 सरकारी स्कूल और कुछ अन्य इमारतें डूब जायेंगी। यह भी काफी शुरुआती आँकड़े हैं अब इसमें कितना कुछ जुड़ गया होगा इसे सिर्फ नये अध्ययन से ही मालूम किया जा सकता है।

कनहर सिंचाई परियोजना केन्द्र और उत्तर प्रदेश सरकार का संयुक्त उपक्रम है। इस परियोजना का निर्माण करने के लिए उत्तर प्रदेश की तत्कालीन सरकार ने 1894 के भूमि अधिग्रहण कानून की धारा 4 और 6 के तहत नोटिस जारी किया और भूमि अधिग्रहण की प्रक्रिया शुरू की। अधिग्रहण करने के लिए 1894 के कानून की धारा 17 का इस्तेमाल किया गया। यानी अधिग्रहण के लिए 'इमरजेन्सी क्लाज' लगाया गया। इमरजेन्सी कैसी थी यह इससे ही साफ है कि अधिग्रहण के 38 साल बाद भी जमीन का भौतिक कब्जा नहीं लिया गया। अधिग्रहण की प्रक्रिया के दौरान 2200 रुपये प्रति बीघा की दर से मुआवजा दिया गया। ज्यादातर लोग जमीन देने और मुआवजा लेने को तैयार नहीं थे। स्थानीय निवासी बताते हैं कि भारी दबाव में मुआवजा लेने को तैयार कुछ लोगों ने कागज पर लिखा 'मुआवजा प्राप्त किया एतराज के साथ'। यह एतराज कितना बड़ा था, यह दशकों से जारी आन्दोलन के जज्बे से लगाया जा सकता है। लोगों ने 'एतराज' के साथ मुआवजा तो ले लिया, लेकिन जैसा कि हर परियोजना के हाकिम जमीन के बदले जमीन और नौकरी जैसे वादे करते हैं वैसा कुछ नहीं हुआ। परियोजना पर जो भी थोड़ा बहुत काम हुआ उसमें बाहर से मजदूर बुलाये गये, स्थानीय लोगों को मजदूरी के लायक भी नहीं समझा गया।

1976 के कनहर के पहले शिलान्यास के बाद कहानी नाटकीय होती गयी और आधुनिक विकास के प्रहसन के रूप में तब्दील हो गयी। इसमें विस्थापन की आशंका में लटके ग्रामीण हैं और दूसरी ओर एक बड़ा आर्थिक घोटाला। 1976 के बाद कुछ-कुछ अन्तराल के बाद काम शुरू होता रहा और पुनः बन्द होता रहा। यहाँ कभी भी लगातार काम नहीं चला। सिंचाई विभाग और लोक निर्माण विभाग के दस्तावेज देखने से मालूम चलता है कि पैसे का खर्च लगातार दिखाया जाता रहा। 1984 में काम रुक गया और सूत्र बताते हैं कि उसका पैसा दिल्ली में होनेवाले एशियाई खेलों की तरफ स्थानान्तरित कर दिया गया। 1989 में पुनः काम शुरू हुआ और 16 परिवार उजाड़े दिये गये। इसके बाद दो दशक तक काम बन्द रहा। कनहर बाँध की वेब साइट पर जाकर देखा जा सकता है कि करोड़ों रुपये के यंत्र यूँ ही धूप, धूल और मिट्टी में बर्बाद हो रहे हैं। इस रुकी हुई परियोजना का एक नया शिलान्यास उत्तर प्रदेश की तत्कालीन मुख्यमंत्री मायावती के जन्मदिन पर 15 जनवरी 2011 को दुद्धी के विधायक सीएम प्रसाद ने किया किया। पुनः तत्कालीन बाढ़ एवं सिंचाई मंत्री उत्तर प्रदेश शिवपाल सिंह यादव ने बाँध के स्पिल वे के निर्माण के लिए 7 नवम्बर 2012 को शिलान्यास किया। शिलान्यास दर शिलान्यास चलता रहा, अधिकारियों और नेताओं की पौ बारह हाती रही और जनता तीन दशक तक विस्थापित की मनःस्थिति में जीती रही। 2014 में निर्माण कार्य शुरू करने की सरकारों और प्रशासन की जिद और प्रतिरोध का नया दौर कैसे शुरू हुआ इस पर हम आगे बात करेंगे।

कनहर बचाओ आन्दोलन

सिर्फ सरकारी षड़यंत्र ही नहीं चल रहे थे बल्कि सोनभ्रद की इस अर्द्धविस्थापित जनता के बीच बड़े पैमाने पर प्रतिरोध और आन्दोलन की तैयारी भी चल रही थी। लोगों ने स्वयं ही इस बाँध के भूत से पीछा छुड़ाने की तैयारी की। बाँध से डूबने या प्रभावित होनेवाले 14 गाँवों के तमाम लोगों ने इस बाँध के खिलाफ सतत और मजबूत संघर्ष चलाने का निर्णय ले लिया। दुद्धी (सोनभद्र) में 1984 से सक्रिय 'ग्राम स्वराज समिति' के सहयोग और सलाह पर 23 मार्च 2002 को 'कनहर बचाओ आन्दोलन' की स्थापना हुई। तब से हर साल भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव की शहादत के दिन 23 मार्च एवं गाँधी जयन्ती 2 अक्टूबर पर कनहर बचाओं आन्दोलन के आह्वान पर हजारों लोग इकट्ठा होकर संघर्ष की आवाज तेज करने लगे।

ग्राम स्वराज समिति के सहयोग से

'कनहर बचाओ आन्दोलन' ने अपना खाका तैयार किया और अपनी लड़ाई की रणनीति विकसित की। नेतृत्व में मुख्यतः आदिवासी और महिलाएँ सक्रिय हुईं। महिलाओं की सक्रियता ने आन्दोलन के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। कनहर बचाओ आन्दोलन का प्रसार प्रभावित होनेवाले सभी 25 गाँवों में किया गया। सोनभद्र में एक केन्द्रीय समिति ने कनहर बचाओ आन्दोलन का नेतृत्व सम्भाल लिया। यह केन्द्रीय समिति प्रभावित ग्रामीणों से ही मिलकर बनी थी। सभी गाँवों में बनी स्थानीय समितियों की मदद तथा ग्राम स्वराज समिति और उसके संयोजक महेषानन्द जी के सहयोग से यही केन्द्रीय समिति आन्दोलन का संचालन करने लगी। कनहर बचाओ आन्दोलन ने अपना अभियान प्रचार, संगठन, कानूनी तथा जमीनी लड़ाई, हर जगह फैला दिया। कुछ ही सालों में संगठन की सदस्य संख्या हजारों में पहुँच गयी। जल्दी ही पीयूसीएल की इलाहाबाद इकाई और इलाहाबाद के ट्रेड यूनियन एवं विस्थापन विरोधी आन्दोलन के सदस्य भी कनहर बचाओ आन्दोलन के सहयोग में जुट गये। खासकर कानूनी संघर्ष के क्षेत्र में। आइये कनहर बचाओ आन्दोलन और उसके हमसफरों के कानूनी संघर्ष के बारे में जाने।

कानूनी संघर्ष के रास्ते

2011 से लेकर अभी तक इलाहाबाद उच्चन्यायालय में दो व राष्ट्रीय हरित न्यायाधिकरण (एनजीटी-- नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल) में एक याचिका दायर की गयी। क्रमवार इन याचिकाओं और इनमें उठाये गये तर्कों को देखते हैं, क्योंकि यही वे तर्क हैं, जिन्हें कनहर बचाओ आन्दोलन एवं पीयूसीएल इलाहाबाद ने विकसित किया और भविष्य में इन्हीं मुद्दों के इर्द-गिर्द संघर्ष के लामबन्द होने की सम्भावना है।

1. जनहित याचिका

डूब क्षेत्र में आनेवाली सभी ग्राम सभाओं ने अपने ग्राम प्रधानों के माध्यम से इलाहाबाद उच्च न्यायालय में एक याचिका (संख्या 697043/2011) 2011 में दायर की। हालाँकि यह याचिका अभी भी लम्बित है, लेकिन इसने आन्दोलन में एक निर्णायक मोड़ ला दिया है। इस याचिका की तैयारी के दौरान जो तैयारी हुई और तर्क विकसित हुए उसने आन्दोलन में नयी जान फूँक दी। आन्दोलनकारियों के लिए इन तर्कों को आत्मसात करना और उसे प्रचारित करना आन्दोलन का नया औजार बन गया।

जनहित याचिका में आये तर्क इस प्रकार थे। सन 1976 में शुरू की गयी यह परियोजना 1984 में परिव्यक्त कर दी गयी। 38 साल बाद बिना किसी नयी अनुमति या अध्ययन के उसे फिर से शुरू करने का क्या औचित्य है। यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि परियोजना के आरम्भ होने से पहले सरकार ने अधिसूचना जारी कर अधिग्रहण की प्रक्रिया शुरू की थी, किन्तु 1984 में योजना के परित्यक्त हो जाने के बाद अधिग्रहण की प्रक्रिया खुद-ब-खुद खत्म हो गयी।

केवल इतना ही नहीं, बल्कि अधिग्रहित जमीनों पर उसके मालिक ही काबिज रहे। वह इस जमीन पर खेती करते रहे और उसका कर्ज भरते रहे और कई लोगों ने इस जमीन के आधार पर कर्ज भी लिये। इस सबका रिकॉर्ड राजस्व विभाग की फाइलों में दर्ज है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि यदि भूमि अधिग्रहण की प्रक्रिया किसी कारण स्वतः समाप्त हो जाती है तो चाहे उस व्यक्ति ने मुआवजा ले भी रखा हो तो भी भूमि अधिग्रहण कानून 1894 की धारा 48 (3) के तहत ऐसे व्यक्ति को जो मानसिक व आर्थिक क्षति पहुँची है, इसके लिए सरकार उसे मुआवजा देने के लिए बाध्य है।

इस याचिका में एक महत्त्वपूर्ण संवैधानिक सवाल भी उठाया गया है। 73वें संविधान संशोधन के बाद अब ग्राम सभाएँ उतनी ही महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ हैं जितनी कि संसद या विधानसभाएँ है। यानी कनहर क्षेत्र में भूमि सुधार, खेती के विकास या सिंचाई से सम्बन्धित योजनाएँ अगर बननी हैं तो यह ग्राम सभाओं का अधिकार क्षेत्र है। ये योजनाएं अब ग्राम सभाएं बनायेंगी न कि केन्द्र या राज्य सरकार उन पर लादेंगी। वास्तविकता यह है कि प्रभावित होनेवाली ग्राम सभाओं ने सर्वसम्मति से बाँध को नकार दिया है। इस लिहाज से देखा जाये तो यह परियोजना गाँव के संवैधानिक अधिकार को चुनौती देती है। केवल इतना ही नहीं इन क्षेत्रों में लगातार पंचायत चुनाव होते रहे हैं। पंचायतें निर्माण एवं विकास का काम करती रही हैं और यहाँ मनरेगा जैसी योजनाएँ भी लागू हैं। इलाहाबाद उच्च न्यायालय में दायर याचिकाओं में वकील, सीनियर एडवोकेट एवं पीयूसीएल के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष रवि किरन जैन कहते हैं कि कनहर बाँध सिर्फ गैर कानूनी नहीं, बल्कि असंवैधानिक भी है। इसने संविधान और पेसा जैसे कानूनों की भावना का उल्लंघन किया है। सरकारों को नियामगिरि के अनुभव से सबक लेना चाहिए।

2. उच्च न्यायालय में दूसरी याचिका

2014 में भूमि अधिग्रहण को केन्द्र में रखकर प्रभावित किसानों की ओर से एक दूसरी याचिका (संख्या-58444/2014) दायर की गयी। इनमें पहली याचिका के मुख्य मुद्दों खासकर जमीन के मालिकों का जमीन पर वास्तविक कब्जे के मसले को तो उठाया ही गया है साथ ही नये भूमि अधिग्रहण कानून 2013 की रोशनी में एक निर्णायक बिन्दु की ओर संकेत किया गया है।

2013 के भूमि अधिग्रहण की धारा 24 (2) साफ शब्दों में कहती है-- 'उपधारा (1) में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी भूमि अर्जन अधिनियिम 1894 के अधीन आरम्भ की गयी भूमि अर्जन कार्रवाइयों के किसी मामले में, जहाँ उक्त धारा 11 के अधीन अधिनिर्णय इस अधिनियम के प्रारम्भ के पाँच वर्ष या अधिक पूर्व प्रारम्भ किया गया था, किन्तु भूमि का भौतिक कब्जा नहीं लिया गया या प्रतिकर का भुगतान नहीं किया गया, वहाँ उक्त कार्रवाइयों के बारे में यह समझा जायेगा कि वह रद्द हो गयी हैं और सरकार यदि चाहे तो इस अधिनियम के उपबन्धों के अनुसार ऐसी

भूमि अर्जन की कार्रवाइयाँ नये सिरे से प्रारम्भ करेगी।'

यानी यह धारा साफ शब्दों में कह रही है कि कनहर बाँध के लिए किया गया भूमि अधिग्रहण रद्द हो चुका है। कारण साफ है अधिग्रहण किये 38 साल गुजर चुके हैं और अभी तक अधिग्रहित भूमि पर भौतिक कब्जा किसानों का ही है। अगर कहनर बाँध बनाना भी है तो नये सिरे से भूमि अधिग्रहण करना होगा, जबकि सरकार और प्रशासन गैर कानूनी तरीके से पुनर्वास पैकेज पर किसानों और आदिवासियों से समझौता चाहते हैं।

3. एनजीटी की तीसरी याचिका

कनहर और पागन नदी के रेत पर धरने पर बैठे आन्दोलनकारी उस वक्त बहुत खुश हुए जब उन्हें पता चला कि नेशनल ग्रीन ट्रिब्यून (एनजीटी) ने कनहर बाँध का काम अगले आदेश तक रोक देने का निर्देश दिया है। 24 सितम्बर 2014 को कनहर बचाओ आन्दोलन की तरफ से पीयूसीएल और विन्ध्य बचाओ समिति द्वारा दायर याचिका पर सुनावई करते हुए एनजीटी ने अन्तिम निर्णय आने तक काम रोकने का आदेश दिया। एनजीटी ने आदेश दिया कि जब तक कानून के मुताबिक इस परियोजना के लिए 'एनवायरमेन्टल क्लियरेंस' तथा 'फारेस्ट क्लियरेंस' नहीं लिया जाता परियोजना स्थल पर कोई काम न हो और न ही कोई पेड़ काटा जाये।

यह याचिका इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है, कयोंकि जंगल और नदियों से घिरे सोनभद्र के पर्यावरण को इस परियोजना से बड़ा खतरा है। इस इलाके के पर्यावरण पर होनेवाले प्रभाव का कोई भी आकलन मौजूद नहीं है। याचिका में कहा गया था कि परियोजना के सन्दर्भ में सरकारों ने पर्यावरण कानून और वन कानून का उल्लंघन किया है। 38 साल बाद पुनः निर्माण कार्य करने के लिए पर्यावरण और वन कानून के तहत नयी अनुमति ली जानी थी, जो कि नहीं ली गयी। एनजीटी ने अपने 2008 के सर्कुलर में साफ कर दिया था कि ट्रिब्यूनल ने एन्वायरमेन्ट इम्पैक्ट असेसमेंट नोटीफिकेशन 2006 के तहत उन सभी परियोजनाओं को जिनके लिए 1994 से पहले जमीन अधिग्रहित की गयी थी फिर से एनवायरमेन्ट और फारेस्ट क्लियरेंस लेना अनिवार्य होगा। पर्यावरण एवं वन मंत्रालय ने एक आरटीआई के जवाब में यह बताया था कि परियोजना के लिए 1980 में एनवायरमेंट क्लियरेंस लिया गया था, जबकि फारेस्ट क्लियरेंस तो लिया ही नहीं गया। इतने साफ निर्देश के बावजूद प्रशासन ने काम नहीं रोका और यही कहता रहा कि उसके पास क्लियरेंस मौजूद है।

शासन की इस जबरई के खिलाफ एनजीटी में न्यायालय की अवमानना का मुकदमा दायर किया गया। एनजीटी ने इन दोनों मुकदमों को आपस में जोड़कर सुनवाई की और पिछले 24 मार्च को सुनवाई पूरी करते हुए अपना फैसला सुरक्षित कर लिया। यह लेख लिखे जाने तक कोई फैसला नहीं आया है।

वर्तमान घटनाक्रम

जिस परियोजना के लिए भूमि अधिग्रहण ही सवाल के घेरे में हो, उसके लिए पुनर्वास एवं पुनर्स्थापना की चाल चलना कितना दुर्भावनापूर्ण है यह कनहर के सबक से सीखा जा सकता है। इन तमाम याचिकाओं और जनआन्दोलन की भावना को दरकिनार करते हुए स्थानीय प्रशासन ने समाजवादी पार्टी से विधायक रूबी प्रसाद की अध्यक्षता में पुनर्वास एवं पुनर्स्थापना के मसले पर ग्रामीणों की एक सभा बुलाई। 16 जून 2014 की इस सभा में हजारों लोग मौजूद थे। कनहर बचाओ आन्दोलन की रणनीति यह थी कि प्रशासन द्वारा बुलाई गयी इस सभा को जनसभा में तब्दील कर दिया जाय। हुआ भी ऐसा ही। वहाँ मौजूद हजारों लोग प्रशासन के बुलाने पर नहीं, बल्कि अपने आन्दोलन के आह्वान पर पहुँचे थे। मंच पर आकर सभी ग्रामीण आदिवासियों ने कनहर बाँध के विरोध में अपनी बात रखी। यहाँ वक्ताओं में वे ग्राम प्रधान भी मौजूद थे, जिन्होंने बाँध के विरोध में प्रस्ताव पारित कर किया था। अन्त में मुख्यमंत्री को सम्बोधित एक ज्ञापन भी सौंपा गया। लेकिर कुछ दिनों बाद जब इस सभा का कार्यवृत्त प्रधानों के पास पहुँचा तो इसे देखकर वे चकित रह गये। कार्यवृत्त में सिर्फ सरकारी अधिकारी और विधायक के ही वक्तव्य थे। जनता के विरोध को इसमें जगह नहीं दी गयी थी। इससे पता चलता है कि प्रशासन एक कृत्रिम सहमति बनाने की कोशिश में लगातार लगा रहा। 12 जुलाई 2014 को पुनर्वास समिति की बैठक में प्रशासन के रवैये पर अपना विरोध जताते हुए फिर से ज्ञापन दिया गया। और साथ ही साथ जगह-जगह पर परियोजना प्रस्ताव एवं पुनर्वास प्रस्ताव की प्रतियाँ जलाने का निर्णय लिया गया।

सरकार और प्रशासन काम तो धीमी गति से बढ़ा रहे थे, लेकिन वे चौतरफा दबाव में थे। तीन याचिकाएँ और बढ़ते हुए आन्दोलन की वजह से पुलिस एवं प्रशासन की गाँव में घुसने की हिम्मत नहीं हो रही थी। इसी बीच दिसम्बर माह में बाँध निर्माण स्थल से करीब 200 मीटर की दूरी पर नदी के पेटे में कनहर बचाओ आन्दोलन की ओर से अनिश्चित कालीन धरने की शुरुआत हुई। यह धरना शान्तिपूर्ण था और दिन में यहाँ सभी गाँवों से हजारों लोग मौजूद रहते थे। भीषण ठंड में रात के खाने से लेकर, जलावन की लकड़ियों तक का इंतजाम था और लोग वहाँ डटे थे। रात में लोग कम हो जाते थे, लेकिन धरना बदस्तूर जारी था। इसी बीच 24 दिसम्बर को ही पुलिस के साथ आन्दोलनकारियों की हल्की झड़प हुई। कई मुकदमे भी आन्दोलनकारियों पर लादे गये, लेकिन किसी को न तो गिरफ्तार किया गया और न ही कोई दबिश दी गयी। आन्दोलन की चौतरफा रणनीति की वजह से प्रशासन लगातार दबाव में था।

इसी बीच कुछ ऐसे लोगों ने आन्दोलन को अपनी तरह से चलाने की कोशिश की जिन्हें इस आन्दोलन की रणनीति, इतिहास और लामबन्दी का ज्ञान नहीं था। उन्होंने

आते ही आन्दोलन के नाम से लेकर उसकी रणनीति तक सब कुछ बदल देना चाहा। डेढ़ दशक से आन्दोलन से जुड़े लोगों को बदनाम करने से लेकर उन्होंने आन्दोलन की व्यापक एकता को तोड़ने की कोशिश की। उन्होंने बगैर नतीजों के अनुमान लगाये, बगैर ठोस रणनीति बनाये 14 अप्रैल 2015 को लोगों से जबरन काम रुकवाने की अपील की। मजे की बात यह है कि यह रणनीति बनाने के बाद ये लोग सोनभद्र से नदारद हो गये। लोगों ने बहादुरी के साथ काम रोका और तीन दिन तक डटे रहे। लेकिन बगैर समुचित योजना, सटीक नेतृत्व और बगैर भारी जनबल उन्हें पहले 14 अप्रैल फिर 18 अप्रैल को पुलिस दमन का शिकार होना पड़ा। पुलिस ने 18 अप्रैल को धरना स्थल भी उजाड़ दिया और सुन्दरी गाँव में घुसकर, जो कि आन्दोलन का गढ़ है, हिंसा का नंगा नाच किया। पचासों लोग घायल हुए। गाँवों को छावनी में तब्दील कर दिया गया। बाहर से अवतरित हुए एडवेन्चरिस्ट लोगों की वजह से आन्दोलन की दूरगामी रणनीति का व्यापक नुकसान हुआ है।

इतना सब होने के बाद मीडिया भी दौड़ा, जाँच कमेटियों के लोग आये, सामाजिक आन्दोलन के लोग भी आ रहे हैं, लेकिन एक स्थाई और सतत कार्रवाई का जो सिलसिला चल रहा था वह फिलहाल टूट गया है। समाजवादी पार्टी और प्रशासन के लोग गाँव-गाँव मीटिंग कर रहे हैं और लोगों को पुनर्वास पैकेज लेने के लिए बाध्य कर रहे हैं। यह पुनर्वास पैकेज 7 लाख 11 हजार रुपये का है। जिन कुछ लोगों ने पहले यह पैकेज लिया है उन्होंने बताया कि इस 'भीख' में भी अधिकारी अपना हिस्सा ले रहे हैं। लोगों को सिर्फ 2 लाख 11 हजार रुपया मिला है। प्रशासन इस मुद्दे पर बात नहीं करना चाहता कि जब यह पूरा बाँध और उसके लिए किया गया अधिग्रहण ही सवालों के घेरे में है तो पुनर्वास का सवाल ही कहाँ उठता है।

पिछले कुछ सालों से प्रशासन द्वारा प्रायोजित 'बाँध बनाओ-हरियाली लाओ' अभियान के बाँध समर्थकों का समूह जो आन्दोलन के दबाव में दबा-दबा-सा था, आक्रामक हो उठा है। इसके जुड़े लोग जाँच कमेटियों और आन्दोलनकारियों पर हमला कर रहे हैं। प्रशासन का रुख इससे साफ है कि 20 अप्रैल की शाम 5 बजे जिलाधिकारी ने सुन्दरी गाँव में मीटिंगकर किसी की गिरफ्तारी न करने का आदेश दिया और इसी के ठीक ढाई घंटे बाद इलाहाबाद में गम्भीरा प्रसाद की गिरफ्तारी हुई।

इस समय आन्दोलन को पुनः संगठित करने की चुनौती सामने है। गाँव के लोग अभी पुलिसिया आतंक से उबरे नहीं हैं, नेतृत्व अभी बिखरा है। उत्तर प्रदेश सरकार और केन्द्र सरकार दोनों ही भूमि अधिग्रहण और जनान्दोलनों को कुचलने की जिस नीति पर चल रही है उससे आनेवाले दिन कठिन होनेवाले हैं। अभी जरूरत है कि लोगों का विश्वास फिर से असली मुद्दों पर कायम हो, वे फिर से अपना झण्डा उठाने के लिए तैयार हों। आन्दोलन को इस बार अदूरदर्शी लोगों से सावधान भी रहना होगा जो कि सतत लड़ाई का महत्त्व नहीं समझते और तात्कालिक एडवेन्चर में लड़ाई को उलझा देते हैं। एक बार फिर उसी व्यापक जनगोलबन्दी को बढ़ाना होगा, जिसमें जनान्दोलन की ऊर्जा भी हो और अदालती लड़ाई के लिए धैर्य भी। जिसमें संगठन बनाने की सूझबूझ भी हो और प्रदर्शनों और कार्रवाइयों का उत्साह भी। हमें फिर से अपने को यकीन दिलाना होगा कि कनहर बाँध असंवैधानिक, गैर कानूनी, पर्यावरणद्रोही व मानव विरोधी है और एक सतत संगठित संघर्ष के माध्यम से हमें निश्चय ही जीत मिलेगी?

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से अब तक अमरीका द्वारा विभिन्न देशों में किये गये हमले, लूटपाट और तख्तापलट

चीन-1945-46, सीरिया-1949, कोरिया-1950-53, चीन-1950-53, ईरान-1953, ग्वाटेमाला-1954
तिब्बत-1955-70, इण्डोनेशिया-1958, क्यूबा-1959, डेमोक्रेटिक रिपब्लिक ऑफ द कांगो-1960-65, इराक-1960-63, डोमिनिकन रिपब्लिक-1961, वियतनाम-1961-73, ब्राजील-1964, बेल्जियन कांगो-1964, ग्वाटेमाला-1964, लाओस-1964-73, डोमिनिकन रिपब्लिक-1965-66, पेरू-1965, ग्रीस-1967
ग्वाटेमाला-1967-69, कम्बोडिया-1969-70, चिली-1970-73, अर्ज.टीना-1976, टर्की-1980
पोलैंड-1980-81,
एल साल्वाडोर-1981-92,
निकारागुआ-1981-90, कम्बोडिया-1980-95, अंगोला-1980, लेबनान-1982-84, ग्रेनेडा-1983-84, फिलीपींस-1986, लीबिया-1986, ईरान-1987-88, लीबिया-1989
पनामा-1989-90, इराक-1991, कुवैत-1991
सोमालिया-1992-94, इराक-1992-1996, बोस्निया-1995, ईरान-1998, सूडान-1998, अफगानिस्तान-1998, यूगोस्लाविया-सर्बिआ-1999, अफगानिस्तान-2001, इराक-2002-03, सोमालिया-2006-2007, ईरान-2005, लीबिया-2011

तुम कत्ल करो हो कि करामात करो हो

–विकास नारायण राय

हाशिमपुरा फैसले में पीएसी--हत्यारोपियों को बरी करनेवाले जज का तर्क रहा कि उन हालात में चश्मदीद गवाहों के लिए हत्यारों को पहचान पाना सम्भव नहीं लगता। न्यायिक बेबसी के सन्दर्भ में, न्याय की चुनौती हर हाल में स्वीकारनेवाले हरियाणा के एक जज की याद आ गयी। कातिलों के वकील ने रिहाई के लिए उनकी अदालत में दलील रखी कि चश्मदीद गवाह तक बैठ गये हैं। जज महोदय तपाक से खड़े हो गये- कोई बात नहीं, मैं तो खड़ा हूँ। हाशिमपुरा मामले में चश्मदीद गवाह तो खड़े रहे, पर अदालत उनके साथ खड़ी नहीं रह सकी। बयालीस लोगों का कत्ल, पाँच चश्मदीद गवाह, अट्ठाईस साल चला मुकदमा और हत्यारे बरी!

भयानक सदमे से गुजरनेवालों के लिए सभी कुछ याद रख पाना हमेशा सम्भव हो, जरूरी नहीं। मौजूदा मामले में भी, रात का अन्धेरा, एक जैसी वर्दी पहने और एक जैसी कद-काठी के हेलमेट ढँके पीएसी जवान, गवाहों के झुके सिर, आसन्न मौत का आतंक- भला कौन किसे पहचानता! हालाँकि ये पाँच चश्मदीद गवाह कत्लवाले समूह से ही थे, जो अँधाधुँध गोलीबारी में घायल-भर हुए मगर मरे समझ लिये गये। इतना ही नहीं, इस समूह को हाशिमपुरा से इकट्ठाकर पीएसी ट्रक में घटनास्थल पर लाया गया था- यानी यह एक ऐसा सिलसिला था जिसमें शामिल पीएसी टोली को स्वाभाविक रूप से पहचाना जा सकता था।

कलीम अजीज का शेर है- 'दामन पे कोई छींट न खंजर पे कोई दाग/ तुम कत्ल करो हो कि करामात करो हो'। इस मामले में चश्मदीद गवाही पर अविश्वास से भी कहीं बड़ी करामात रही है परिस्थितिजन्य साक्ष्य का तिरस्कार। जाँच, अभियोजन, अदालत हर चरण में। गब्बर सिंह की टोली ने नहीं, कानून-व्यवस्था की सरकारी पीएसी ने हत्याकांड को अंजाम दिया था। सैकड़ों लोगों के सामने उन्होंने लोगों को सरकारी ट्रक में अगवा किया और कत्ल करने में सरकारी राइफलें इस्तेमाल की गयीं।

लिहाजा, हत्याकांड के आरोपियों को अपराध से जोड़ पाना एक नितान्त स्वाभाविक कवायद होनी चाहिए थी। आरोपियों को मृतकों के अपहरण से और मृतकों के घावों को अपहरणकर्ताओं की हत्यारी राइफलों से जोड़ना भला क्या मुश्किल था। पर न्याय का पहिया अट्ठाईस वर्ष घिसटता रहा और भौतिक/फोरेंसिक साक्ष्य के सुलभ मुकाम तय करने में उसकी रुचि नदारद रही। मानना होगा कि सजा को लेकर अदालत की भी जाँच और अभियोजन पक्षों से कम, पर हत्यारों से कमाल की उम्मीदें रहीं। काश, हत्यारे पर्याप्त उजाले में इस बर्बर हत्याकांड को अंजाम देते; वे एक जैसी दिखती वर्दी और हेल्मेट में नहीं होते; गवाह भी निरपेक्ष मनःस्थिति में रहते, न कि गोलियों की बौछार के सामने सिर झुकाये भागने की हड़बड़ी में!

उस दौरान गाजियाबाद के पुलिस अधीक्षक रहे विभूति नारायण राय ने इक्कीस वर्ष बाद, चश्मदीद गवाह बाबूदीन के 22-23 मई 1987 की रात के आतंक को इस तरह दर्ज किया-

''उस रात दस-साढ़े दस बजे हापुड़ से वापस लौटा था। निवास के गेट पर मुझे घबराया हुआ और उड़ी रंगतवाला चेहरा लिए सब इंस्पेक्टर वीबी सिंह दिखाई दिया, जो उस समय लिंक रोड थाने का इंचार्ज था। अनुभव बता रहा था कि उसके इलाके में कुछ गम्भीर घटा है।

वीबी सिंह इतना घबराया हुआ था कि उसके लिए सुसंगत तरीके से कुछ भी बता पाना सम्भव नहीं लग रहा था। हकलाते हुए और असम्बद्ध टुकड़ों में उसने जो कुछ बताया मेरी समझ में आ गया कि उसके थाना क्षेत्र में कहीं नहर के किनारे पीएसी ने कुछ मुसलमानों को मार दिया है। क्यों मारा? कितने लोगों को मारा? कहाँ से लाकर मारा? स्पष्ट नहीं था। कई बार उसे अपने तथ्यों को दोहराने के लिए कहकर मैंने घटनाक्रम को टुकड़े-टुकड़े जोड़ते हुए एक नैरेटिव तैयार करने की कोशिश की।

इससे जो चित्र बना उसके अनुसार वीबी सिंह थाने में अपने कार्यालय में बैठा हुआ था कि लगभग नौ बजे उसे मकनपुर की तरफ से फायरिंग की आवाज सुनाई दी। लगा कि गाँव में डकैती पड़ रही है।

आज तो मकनपुर गाँव का नाम सिर्फ राजस्व रिकार्ड में है। गगनचुम्बी इमारतोंवाले मकनपुर में 1987 में दूर-दूर तक बंजर जमीन पसरी हुई थी। एक चकरोड पर सिंह की मोटरसाइकिल दौड़ी। पीछे थाने का एक दारोगा और एक सिपाही बैठे थे। वे सौ गज भी नहीं पहुँचे थे कि सामने से तेज रफ्तार एक ट्रक आता दिखाई दिया। अगर उन्होंने समय रहते मोटरसाइकिल चकरोड से नीचे न उतार दी होती तो ट्रक उन्हें कुचल देता। सन्तुलन सम्भालते-सम्भालते जितना कुछ उन्होंने देखा उसके अनुसार ट्रक पीले रंग का था और उस पर पीछे 41 लिखा हुआ था, पिछली सीटों पर खाकी कपड़े पहने कुछ लोग बैठे दिखे। पुलिसकर्मी के लिए समझना मुश्किल नहीं था कि पीएसी की 41वीं बटालियन का ट्रक पीएसीकर्मियों को लेकर गुजरा था।

बमुश्किल एक किलोमीटर दूर जो नजारा दिखा वह रोंगटे खड़ा कर देनेवाला था। गाँव की आबादी से पहले चकरोड एक

नहर को काटती थी। वहाँ पुलिया पर मोटरसाइकिल की हेडलाइट जब नहर के किनारे सरकंडे पर पड़ी तो उन्हें गोलियों की आवाज का रहस्य समझ में आया। चारों तरफ खून के धब्बे बिखरे थे। नहर की पटरी, झाड़ियों और पानी में ताजा जख्मोंवाले शव थे। उन्होंने घटनास्थल का मुलाहिजाकर अन्दाजा लगाने की कोशिश की कि वहाँ क्या हुआ होगा? उनकी समझ में सिर्फ इतना आया कि वहाँ पड़े शवों और रास्ते में दिखे पीएसी के ट्रक में कोई सम्बन्ध जरूर है।

साथ के सिपाही को घटनास्थल पर निगरानी के लिए छोड़ते हुए सिंह साथी दारोगा के साथ वापस मुख्य सड़क की तरफ लौटा। गाजियाबाद-दिल्ली मार्ग पर पीएसी की 41वीं बटालियन का मुख्यालय था। दोनों सीधे वहीं पहुँचे। बटालियन का मुख्य द्वार बन्द था। काफी बहस करने के बाद भी संतरी ने उन्हें अन्दर जाने की इजाजत नहीं दी। तब सिंह ने मुख्यालय आकर मुझे बताने का फैसला किया।

साफ था कि जो घटा है वह बहुत ही भयानक है और दूसरे दिन गाजियाबाद जल सकता था। पिछले कई हफ्तों से बगल के जिले मेरठ में साम्प्रदायिक दंगे चल रहे थे और उसकी लपटें गाजियाबाद पहुँच रहीं थीं। मैंने जिला मजिस्ट्रेट नसीम जैदी के बाद मुख्यालय पर मौजूद एडिशनल एसपी, कुछ डिप्टी एसपी और मजिस्ट्रेटों को तैयार होने के लिए कहा।

चालीस-पैंतालीस मिनटों में सात-आठ वाहनों में लदे-फंदे हम मकनपुर गाँव की तरफ लपके। नहर की पुलिया से थोड़ी दूर पर ही गाँव की आबादी थी लेकिन तब तक कोई गाँववाला वहाँ नहीं पहुँचा था। दहशत ने उन्हें घरों में दुबकाए रखा। थाना लिंक रोड के कुछ पुलिसकर्मी जरूर वहाँ पहुँच गये थे। उनकी टार्चों की रोशनी के कमजोर वृत्त नहर के किनारे घनी झाड़ियों पर पड़ रहे थे। मैंने ड्राइवरों से नहर की तरफ गाड़ियों के हेडलाइट्स ऑन करने के लिए कहा, लगभग सौ गज चौड़ा इलाका प्रकाश से नहा उठा।

हेडलाइट्स की रोशनियाँ झाड़ियों से टकराकर टूट-टूट जा रहीं थीं इसलिए टॉर्चों का भी इस्तेमाल करना पड़ रहा था। खून के थक्के अभी पूरी तरह से जमे नहीं थे, उनमें से खून रिस रहा था। पटरी पर बेतरतीबी से शव पड़े थे- कुछ झाड़ियों में फँसे तो कुछ आधे-तिहाई पानी में डूबे। शवों की गिनती करने या निकालने से ज्यादा जरूरी था कि कोई जीवित तो नहीं है। सबने अलग-अलग दिशाओं में टॉर्चों की रोशनियाँ फेंक-फेंककर अन्दाजा लगाने की कोशिश की। बीच-बीच में हम हांक भी लगाते रहे कि अगर कोई जीवित हो तो उत्तर दे। हम दुश्मन नहीं दोस्त हैं। उसे अस्पताल ले जायेंगे। पर कोई जवाब नहीं मिला।

हमें दूसरे दिन की रणनीति बनानी थी इसलिए जूनियर अधिकारियों को शवों को निकालने और जरूरी लिखा-पढ़ी करने के लिए कह कर हम लिंक रोड थाने के लिए मुड़े ही थे कि नहर की तरफ से खाँसने की आवाज सुनाई दी। सभी ठिठककर रुक गये। मौन छा गया।

स्पष्ट था कि कोई जीवित था लेकिन उसे यकीन नहीं था कि जो लोग तलाश रहे हैं वे मित्र हैं। हमने फिर आवाजें लगानी शुरू कीं, टॉर्च की रोशनी शरीरों पर डाली और अन्त में हरकत करते हुए एक शरीर पर हमारी नजरें टिक गयीं। कोई दोनों हाथों से झाड़ियाँ पकड़े आधा शरीर नहर में डुबोये इस तरह था कि बिना ध्यान से देखे अन्दाजा लगाना मुश्किल होता कि वह जीवित है या मृत!

वह दहशत से बुरी तरह काँप रहा था और काफी देर तक आश्वस्त करने के बाद यह विश्वास करनेवाला कि हम उसे मारने नहीं बचानेवाले हैं, जो व्यक्ति अगले कुछ घंटे हमें इस लोमहर्षक घटना की जानकारी देनेवाला था, उसका नाम बाबूदीन था। गोली उसे छूते हुए निकल गयी थी। भय से निश्चेष्ट वह झाड़ियों में गिरा तो भाग-दौड़ में हत्यारों को जाँचने का मौका नहीं मिला कि वह जीवित है या मर गया। दम साधे वह आधा झाड़ियों और आधा पानी में पड़ा रहा और इस तरह मौत के मुँह से वापस लौट आया। उसे कोई खास चोट नहीं आयी लगती थी और नहर से वह चलकर गाड़ियों तक आया।

बाबूदीन ने बताया कि उस दिन अपराहन तलाशियों के दौरान पीएसी के एक ट्रक पर चालीस-पचास लोगों को ले जाया गया तो उन्होंने समझा कि उन्हें गिरफ्तार कर किसी थाने या जेल ले जाया जा रहा है। मकनपुर पहुँचने के लगभग पौन घंटा पहले ट्रक को मुख्य सड़क से उतारकर नहर की पटरी पर कुछ दूर ले जाकर रोक दिया गया। पीएसी के जवान कूदकर नीचे उतर गये और उन्होंने ट्रक पर सवार लोगों को नीचे उतरने का आदेश दिया। आधे लोग ही उतरे थे कि पीएसीवालों ने उन पर फायर शुरू कर दिया। गोलियाँ चलते ही ऊपरवाले वहीं दुबक गये। बाबूदीन भी उनमें से एक था।

फायरिंग की आवाज आसपास के गाँवों में पहुँची जिसके कारण वहाँ से शोर सुनाई देने लगा और पीएसीवाले वापस ट्रक में चढ़ गये। ट्रक तेजी से वापस गाजियाबाद की तरफ मकनपुरवाली नहर पर आया और एक बार फिर सबसे उतरने के लिए कहा गया। इस बार डरकर ऊपर दुबके लोगों ने उतरने से इनकार कर दिया तो उन्हें खींच-खींचकर नीचे घसीटा गया। जो नीचे आ गये उन्हें गोली मारकर नहर में फेंक दिया गया और जो डरकर ऊपर दुबके रहे उन्हें ऊपर ही गोली मारकर नीचे ढकेला गया। हमने पहले घटनास्थल का अन्दाजा लगाने की कोशिश की। मेरठ से गाजियाबाद आते समय रास्ते में मुरादनगर थाने में पड़नेवाली नहर हो सकती है। मैंने लिंक रोड थाने के वायरलेस सेट से मुरादनगर थाने को कॉल किया। वहाँ भी कई शव नहर में पड़े मिले थे और कुछ लोग जीवित थाने लाये गये थे।'

हाशिमपुरा के वे पाँच चश्मदीद गवाह भी 'हिन्दू' पीएसी के 'त्वरित न्याय' का हाल सुनाने को बचे न होते तो? राज्य की 'करामात' में तब भी क्या शक रहता? आखिर अट्ठाईस वर्ष बाद भी हत्याकांड पर अस्वीकृति की मुहर नहीं ही लग सकी।

मलियाना का हाल भी हाशिमपुरा से जुदा नहीं

–सलीम अख्तर सिद्दीकी

28 साल बाद एक बार फिर हाशिमपुरा सुर्खियों में है। किसी नरसंहार की सुनवाई में 28 साल लगना इतना लम्बा वक्फा है, जिसमें एक पीढ़ी जवान हो जाती है और जिस पीढ़ी ने उसे भुगता है, वह दुनिया से जाने की तैयारी में होती है। 28 साल के बाद जब उस नरसंहार का फैसला आया तो हर कोई सकते में रह गया। 42 लोगों का कत्ल हुआ था लेकिन जिन पर आरोप थे, वे बरी हो गये थे। दिल्ली की तीस हजारी कोर्ट ने सबूतों के अभाव में सभी 16 आरोपी पुलिसवालों को बरी कर दिया। इस केस में 19 पीएसीवाले आरोपी थे। तीन आरोपियों की पहले ही मौत हो चुकी थी।

हाशिमपुरा नरसंहार के एक दिन बाद 23 मई 1987 को मलियाना नरसंहार हुआ था। मलियाना के लोग आज भी उस दिन का आतंक भूले नहीं हैं और न ही पीड़ितों को अब तक न्याय और उचित मुआवजा मिल सका है। आज तक किसी भी नेता या दल ने यह कोशिश भी नहीं की कि मलियाना के पीड़ितों को भी 1984 के सिख विराधी दंगों की तरह आर्थिक पैकेज मिले। राष्ट्रीय मीडिया ने हाशिमपुरा नरसंहार को प्रमुखता से उठाया था लेकिन पक्ष-विपक्ष के सभी राजनीतिक दलों ने तो इन घटनाओं पर सिर्फ राजनीति ही की।

30 मई 1987 को तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने मेरठ का दौरा किया था। लेकिन वे वीर बहादुर सिंह सरकार पर अंकुश नहीं लगा सके थे, जिसकी वजह से मेरठ का दंगा चार महीने तक चलता रहा था। यही वह दौर था, जब वी पी सिंह राजीव गाँधी से बगावत करके पूरे देश में जन जागरण कर रहे थे। उन्होंने भी हाशिमपुरा और मलियाना को मुद्दा बनाकर राजीव गाँधी पर प्रहार किया था। इस मुद्दे का सबसे ज्यादा फायदा उठाया था मुलायम सिंह यादव और आजम खान ने। ये दोनों नेता बार-बार आश्वासन देते थे कि जनता दल सरकार आते ही हाशिमपुरा और मलियाना के कातिलों को कड़ी सजा दिलायेगी। जनता दल की सरकार भी आकर चली गयी। समाजवादी पार्टी भी अस्तित्व में आ गयी। सपा ने उत्तर प्रदेश में चार बार सरकार भी बना ली, लेकिन उसे न हाशिमपुरा की सुध आयी और न मलियाना की। आजम खान प्रतिबंध तोड़कर बार-बार हाशिमपुरा और मलियाना आते थे, लेकिन सरकार में आने के बाद एक बार भी नहीं आये। फैसला आने के बाद भी उनकी चुप्पी किसी से छुपी नहीं है।

ये वे दिन थे, राजीव गाँधी शासन काल में बाबरी मसजिद का ताला खुल चुका था और देश के कई शहरों में तनाव था। मेरठ भी इससे अछूता नहीं था। विश्व हिन्दू परिषद की भड़काऊ बयानबाजी जारी थी। लाल कृष्ण आडवाणी के नेतृत्व में भाजपा राम मन्दिर के मुद्दे पर रैलियाँ और सभाएँ कर रही थी। मेरठ में भी माहौल बहुत तनावपूर्ण था। 19-20 मई की रात को मेरठ के इमलियान से दंगा भड़क उठा था। इमलियान हाशिमपुरा से कुछ ही दूरी पर है। इन दोनों मोहल्लों में बहुसंख्यक मुसलमान बुनकर हैं। बेकाबू दंगे को काबू करने के लिए उत्तर प्रदेश सरकार की वीरबहादुर सरकार ने पीएसी को खुली छूट दे दी थी। कहा तो यह भी जाता है कि वीर बहादुर सिंह मेरठ के एक कताई मिल के गेस्ट हाऊस में बैठकर खुद पीएसी को दिशा-निर्देश दे रहे थे। लक्ष्य था मुसलमानों को ऐसा सबक सिखाना, जिससे वे हमेशा के लिए खामोश हो जायें।

23 मई 1987 की सुबह बहुत अजीब और बेचैनी भरी थी। रमजान की 25वीं तारीख थी। दिल कह रहा था कि आज सब कुछ ठीक नहीं रहेगा। तभी लगभग सात बजे मलियाना में एक खबर आयी कि आज मलियाना में घर-घर तलाशी होगी और गिरफ्तारियाँ होंगी। वह भी सिर्फ मुस्लिम इलाके की। कोई भी इसकी वजह नहीं समझ पा रहा था। भले ही 18-19 की रात से पूरे मेरठ में भयानाक दंगा भड़का हुआ था, लेकिन मलियाना शान्त था और यहाँ पर कर्फ्यू भी नहीं लगाया गया था। यहाँ कभी हिन्दू-मुस्लिम दंगा तो दूर तनाव तक नहीं हुआ था। हिन्दू और मुसलमान साथ-साथ सुख चैन से रहते आ रहे थे। तलाशियों और गिरफ्तारियों की बात से नौजवानों में कुछ ज्यादा ही बैचेनी थी। इसी बैचेनी में बारह बज गये। इसी बीच मैंने अपने घर की छत से देखा कि मलियाना से जुड़ी संजय कालोनी में गहमागहमी हो रही है। ध्यान से देखा तो एक देसी शराब के ठेके से शराब लूटी जा रही थी। पुलिस और पीएसी शराब लुटेरों का साथ दे रही थी। और बहुत से लोगों ने यह नजारा देखा तो माहौल में दहशत तारी हो गयी। कुछ लोगों ने यह कहकर तसल्ली दी कि शायद कुछ लोगों को शराब की तलब बर्दाश्त नहीं हो रही होगी, इसलिए शराब को लूटा जा रहा है। यह सब चल ही रहा था कि पुलिस और पीएसी ने मलियाना की मुस्लिम आबादी को चारों ओर से घेरना शुरू कर दिया।

घेरेबन्दी कुछ इस तरह की जा रही थी मानो दुश्मन देश के सैनिकों पर हमला करने के लिए उनके अड्डों को घेरा जा रहा हो। यह देखकर, जिसे जहाँ जगह मिली जाकर छुप गया। इसी बीच जौहर की अजान हुई और बहुत सारे लोग हिम्मत करके नमाज अदा करने मस्जिद में चले गये। नमाज अभी हो ही रही थी कि पुलिस और पीएसी ने घरों के दरवाजों पर दस्तक देनी शुरू कर दी। दरवाजा नहीं खुलने पर उन्हें तोड़ दिया गया। घरों में

लूट और मारपीट शुरू कर दी, नौजवानों को पकड़कर एक खाली पड़े प्लाट में लाकर बुरी तरह से मारा-पीटा गया। उन्हीं नौजवानों में मौहम्मद याकूब भी था, जो इस कांड का मुख्य गवाह है। तभी पूरा मलियाना गोलियों की तड़तड़ाहट से गूँज गया। गोलियाँ चलने की आवाज जैसे एक सिगनल था। दंगाइयों ने, जिनमें विहिप और बजरंग दल जैसे साम्प्रदायिक दलों के कार्यकर्ता अधिक थे, मुसलमानों के घरों को लूटना और जलाना शुरू कर दिया। तेजधार हथियारों से औरतों और बच्चों पर हमले हुए। पुलिस और पीएसी ने उन दंगाइयों की ओर से मुँह फेर लिया। शराब का ठेका लूटने का रहस्य भी पता चला। दंगाई नशे में घुत थे। यह सब दोपहर ढाई बजे से शाम पाँच बजे तक चलता रहा। पाँच बजे के बाद कुछ लोग बदहवासी के आलम में सड़कों पर निकल आये। कुछ लोगों की हालत तो पागलों जैसी हो रही थी। वह अपने जुनूँ में कुछ का कुछ बोल रहे थे। कुछ की ये हालत दहशत की वजह से थी, तो कुछ ने अपने सामने ही अपने को मरते या गम्भीर से रूप से घायल होते देखा था, इसलिए उनकी हालत पागलों जैसी हो गयी थी। जो लोग घरों में दुबके पड़े हुऐ थे, उन्हें लग रहा था कि शायद वे ही जिन्दा हैं, बाकी सबको मार दिया गया है। शोर-शराबा सुनकर मलियाना के सभी लोग सड़कों पर निकल आये। बहुत से लोग कराह रहे थ। कुछ गम्भीर घायल थे, जिन्हें सहारा देकर लाया जा रहा था। सड़कों पर हूजूम देखकर पुलिस और पीएसी ने गोलियाँ चलाना बन्द कर दिया। इसी बीच एक युवक ने एक पीएसीवाले को कुछ बोल दिया। पीएसी के जवान ने निशाना साधकर युवक पर फायर झोंक दिया। गोली युवक के तो नहीं लगी, लेकिन उसके साथ चल रही शाहजहाँ नाम की एक बारह साल की बच्ची की आँख में जा लगी। यह देखकर पीएसी के जवान को भी शायद आत्मग्लानि हुई और वह सिर झुकाकर चुपचाप एक गली में चला गया।

अब तक मलियाना के सभी मुसलमान, जिनमें बच्चे और औरतें भी शामिल थीं, मलियाना से बाहर जानेवाले रास्ते पर इकट्ठा हो चुके थे। वहीं पर मेरठ के आला पुलिस अफसर खड़े थे। शायद जायजा ले रहे थे कि ''ऑप्रेशन मुस्लिम मर्डर'' ठीक से मुकम्मल हुआ या नहीं। घायलों की तरफ उनकी तवज्जो बिल्कुल नहीं थी। इसी बीच आला पुलिस अफसरों की पीठ पीछे कुछ दंगाई एक घर में आग लगा रहे थे। एक अफसर का ध्यान उस ओर दिलाया गया तो वह मुस्कराकर बोला--''तुम लोग इमरान खाने के छक्कों पर बहुत तालियाँ बजाते हो, ये इसका इनाम है।''

बाद में पता चला कि उस घर में पति-पत्नि सहित 6 लोग जिन्दा जलकर मर गये। जब उनकी लाशें बाहर निकाली गयीं तो माँ-बाप ने अपने चारों बच्चों को अपने सीने से चिपकाया हुआ था। इस बीच रोजा खोलने का वक्त हो चुका था। लेकिन रोजा खोलने के लिए कुछ खाने को तो दूर पानी भी मयस्सर नहीं था। जब पुलिस अफसरो से पानी की माँग की गयी तो उन्होंने यह कहकर माँग ठुकरा दी कि आप सब अपने-अपने घरों में जाकर रोजा खोलें। लेकिन दशहत की वजह से कोई भी अपने घर जाने को तैयार नहीं हुआ। रात के बारह बज गये। अब तक किसी भी प्रकार की राहत का दूर-दूर तक पता नहीं था।

मीडिया को मलियाना में आने नहीं दिया जा रहा था। किसी प्रकार बीबीसी का एक नुमाइन्दा जसविन्दर सिंह छुपते-छुपाते मलियाना पहुँचा। उसके साथ अमर उजाला का फोटोग्राफर मुन्ना भी था। जसिवन्दर ने पूरी जानकारी ली। पता नहीं कैसे पुलिस और पीएसी को दोनों पत्रकारों की उपस्थिति का इल्म हो गया। पीएसी ने फोटोग्राफर का कैमरा छीनकर उसकी रील नष्ट कर दी। दोनों पत्रकारों को फौरन मलियाना छोड़कर जाने का आदेश दिया। सुबह होते-होते मलियाना को फौज के हवाले कर दिया गया। फौज के सहयोग से हम लोगों ने लाशों की तलाश का काम शुरू हुआ, जो कई दिन तक चलता रहा। हौली चौक पर सत्तार के परिवार के 11 सदस्यों के शव उसके घर के बाहर स्थित एक कुएँ से बरामद किये गये। कुल 73 लोग मारे गये थे। मारे गये लोगों में केवल 36 लोगों की शिनाख्त हो सकी। बाकी लोगों को प्रशासन अभी भी लापता मानता है। हालाँकि उनके वारिसान को यह कहकर 20-20 हजार का मुआवजा दिया गया था कि यदि ये लोग लौटकर आ गये तो मुआवजा राशि वापस ले ली जायेगी। ये अलग बात है कि आज तक कोई ''लापता'' वापस नहीं लौटा है। शासन प्रशासन ने इस कांड को हिन्दू-मुस्लिम दंगा प्रचारित किया था। लेकिन यहाँ पर किसी एक गैरमुस्लिम को खरोंच तक नहीं आयी थी।

कत्लेआम के बाद मलियाना नेताओं का तीर्थस्थ्ल हो गया था। शायद ही कोई ऐसा नेता बचा हो, जो मलियाना न आया है। भाजपा के लालकृष्ण आडवाणी ने भी मलियाना का दौरा करके कहा था कि मलियाना में पुलिस और पीएसी ने ज्यादती की है। विपक्ष और मीडिया के तीखे तेवरों के चलते इस कांड की एक सदस्यीय जाँच आयोग से जाँच कराने का ऐलान किया गया था। आयोग के अध्यक्ष जीएल श्रीवास्तव ने एक साल में ही जाँच पूरी करके सरकार को रिपोर्ट सौंप दी थी। लेकिन इस रिपोर्ट का हश्र भी ऐसा ही हुआ, जैसा कि अन्य आयोगों की रिपोर्टों का अब तक होता आया है। मुसलमानों का हितैषी होने का दम भरनेवाले मुलायम सिंह हों, मायावाती हों या आजम खान हों, किसी ने भी अपने शासनकाल में रिपोर्ट को सार्वजनिक करके दोषियों को सजा दिलाने की कोशिश नहीं की। हाँ इतना जरूर हुआ कि समय-समय पर मलियाना कांड का जिक्र करके राजनीतिक लाभ जरूर उठाया गया। कहा जाता है कि जाँच आयोग की रिपोर्ट में पुलिस और पीएसी को दोषी ठहराया गया है। अफसोस इस बात का है कि मलियाना कांड में मुख्य भूमिका निभानेवाले पुलिस और पीएसी के अधिकारी इज्जत के साथ न केवल नौकरी पर कायम रहे, बल्कि तरक्की भी करते रहे। उस समय दोषी पुलिस और पीएसी अधिकारियों को सस्पेंड करना तो दूर उनका तबादला तक भी नहीं किया गया था। ये अधिकारी एक लम्बे अरसे तक मलियाना कांड के पीड़ीतों की मदद करनेवालों को धमकाते रहे। पुलिस ने इन पंक्तियों के लेखक को भी उस समय मीडिया से दूर रहने के लिए कहा था, क्योंकि उस समय दुनिया-भर के मीडिया में मेरे माध्यम से खबरें आ रहीं थीं।

ऐसा नहीं करने पर रासुका में बन्द करने की धमकी मिली थी।

इस अति चर्चित कांड की सुनवाई यूँ तो फास्ट ट्रेक अदालत में चल रही है, लेकिन अभी भी उसकी चाल बेहद सुस्त है। आरोपियों के वकील कार्यवाही को बाधित करने का हर सम्भव हथकंडा अपना रहे हैं। फास्ट ट्रेक अदालतों का गठन ही इसलिए किया गया था ताकि मलियाना जैसे जघन्य मामलों की सुनवाई जल्दी से जल्दी हो सके। लेकिन लगता नहीं कि जल्दी इंसाफ मिल पायेगा। इस लड़ाई में मलियाना के मुसलमान अकेले हैं। उन्हें केस लड़ने के लिए कहीं से भी किसी प्रकार की मदद नहीं मिल रही है। मुख्य गवाहों को धमकाया जा रहा है। बयान बदलने के लिए पैसों का लालच दिया जा रहा है। ऐसे में इस मामले का क्या हश्र होगा अल्लाह ही जानता है। क्या वे नेता जिन्होंने मलियाना कांड पर अपनी राजनीतिक रोटियाँ सेंकी हैं, मलियाना कांड केस को लड़वाने में किसी प्रकार की मदद करेंगे?

न्याय की सुस्त चाल

दिलचस्प बात है कि मलियाना कांड से सम्बन्धित जो प्राथमिक रिपोर्ट थाना ट्रांसपोर्ट नगर में दर्ज हुई थी, उसकी मूल प्रति केस डायरी से गायब हो चुकी है। बचाव पक्ष के वकील इस बात पर अड़े हैं कि जब प्राथमिक रिपोर्ट की मूल प्रति ही गायब है, तो केस किस आधार पर लड़ा जा रहा है। इस केस में 35 गवाह हैं, जिनमें से अभी मात्र तीन की गवाही ही हो पायी। चौथी गवाह शहाना की गवाही के दौरान मौत हो चुकी है। इस केस में 93 आरोपी हैं, जिनमें लगभग दो दर्जन आरोपियों की मौत हो चुकी है, तो लगभग एक दर्जन के करीब गवाह भी अब इस दुनिया में नहीं हैं। जाहिर है कि इस केस का भी वही हश्र होना है जो हाशिमपुरा मामले का हुआ। ऐसे में क्या इस लोकतंत्र और न्याय-प्रणाली में आम अवाम का भरोसा कायम रह पायेगा?

हाशिमपुरा और भी हैं!

--कमर वहीद नकवी

1948 से लेकर 2015 तक। कुछ मालूम, कुछ नामालूम! जगहें अलग-अलग हो सकती हैं। वजहें अलग-अलग हो सकती हैं। घटनाएँ अलग-अलग हो सकती हैं। लेकिन चरित्र लगभग एक जैसा। सरकारों का रवैया भी एक जैसा। राजनीतिक गुल-गपाड़ा भी एक जैसा। जाँच और इनसाफ की उम्मीदों का हश्र भी लगभग एक जैसा।

समय बदला। बदलता रहा। लेकिन 1948 में हैदराबाद से लेकर 1987 में हाशिमपुरा, 2000 में मलोम से लेकर 2015 में शेषाचलम तक इन कहानियों में कुछ नहीं बदला! बीस कत्ल, दो कहानियाँ, शेषाचलम के रक्तचन्दन के जंगल की जमीन बीस लकड़हारों के खून से लाल हो गयी। लकड़हारे तमिलनाडु के थे। उन्हें मारा आन्ध्र पुलिस की टास्क फोर्स ने। पुलिस की कहानी वही पुरानी है। उसने करीब सौ लकड़हारों को रक्तचन्दन के पेड़ काटते देखा, उन्हें चेतावनी दी, तो उन्होंने पत्थरों और दराँतियों से पुलिस पर हमला कर दिया। पुलिस को 'आत्मरक्षा' में गोली चलानी पड़ी! बीस लकड़हारे मारे गये। मौके से कुछ कुल्हाड़ियाँ, दराँतियाँ, कारतूसों के कुछ खोखे और चार देसी कट्टे मिले हैं!

बताइये पत्थरों और दराँतियों और अगर वाकई लकड़हारों के पास देसी कट्टे भी थे, तो भी उनसे पुलिस पर ऐसा क्या जानलेवा हमला हो सकता है कि पुलिस को ऐसा कत्लेआम करना पड़े? पुलिस और लकड़हारों में यह कथित मुठभेड़ दो जगहों पर हुई। दोनों जगह वही एक कहानी कैसे? और पुलिस की कहानी के उलट एक और कहानी सामने आयी है कि कुछ लकड़हारों को तो पुलिस ने एक बस से पकड़ा था। उनका एक साथी पहचान में आने से बच गया था क्योंकि वह एक महिला के साथ की सीट पर बैठा था। पुलिस और सुरक्षा बल क्यों करते हैं ऐसा? जाहिर है कि मामले की जाँच होगी। अदालत बैठेगी। सुनवाई होगी। जाने कितने साल लगेंगे इस सबमें। और फिर किसी को सजा मिल पायेगी या नहीं, अपराधियों की शिनाख्त हो पायेगी या नहीं, कहा नहीं जा सकता। 28 साल लम्बी हाशिमपुरा की अदालती सुनवाई का अंजाम क्या रहा? यही न कि अपराधियों की शिनाख्त नहीं हो सकी! तो शेषाचलम में यही कहानी नहीं दोहरायी जायेगी, कौन कह सकता है? हाशिमपुरा में तो दंगा हुआ था, साम्प्रदायिकता का जहर सेना और पीएसी तक भी फैल गया, तो हैरानी नहीं। लेकिन शेषाचलम में तो कोई दंगा नहीं हुआ था। बात महज दो राज्यों के बीच थी। एक राज्य के तस्कर, दूसरे राज्य की पुलिस! सच है कि चन्दन की तस्करी के लिए वह इलाका बदनाम है, खूँखार चन्दन माफिया का वहाँ आतंक है। लेकिन माफिया को आतंकित करने के लिए निहत्थे लकड़हारों का कत्लेआम कैसे जायज ठहराया जा सकता है? पुलिस और सुरक्षा बल ऐसा करते हैं क्योंकि उन्हें मालूम है कि उनके खिलाफ कभी कोई कार्रवाई या तो नहीं होगी, या नहीं हो पायेगी।

अकसर सत्ता तंत्र यही कहकर कार्रवाई नहीं होने देता कि इससे पुलिस बलों का मनोबल टूटेगा और वह दंगाइयों, आतंकवादियों, उग्रवादियों और माफियाओं के खिलाफ कैसे लड़ पायेंगे? और अगर मजबूरी में मामला अदालतों तक पहुँचा भी तो सालों साल चले जाँच कमीशनों और फिर उसके बाद की अदालती कार्रवाई में गवाह तोड़-मरोड़ कर, सबूत मिटाकर सबको बचा लिया जायेगा! इसलिए यह सिलसिला न कभी रुका है और न कभी रुकेगा, सरकार चाहे कोई हो, सत्ता चाहे किसी राजनीतिक दल के पास हो! हैदराबाद की रिपोर्ट, जो कभी छपी नहीं वाकया 1948 का है। हैदराबाद के भारत में विलय के लिए निजाम के खिलाफ 'पुलिस कार्रवाई' में कुछ ही दिनों के संघर्ष के बाद निजाम के रजाकारों ने घुटने टेक दिये। यहाँ तक तो ठीक था, लेकिन निजाम के पतन के बाद हैदराबाद और आसपास के जिलों से छन-छनकर जो खबरें

प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू तक पहुँची, उससे वह हैरान रह गये। उन्होंने काँग्रेस के पंडित सुन्दरलाल के नेतृत्व में एक जाँच टीम वहाँ भेजी। टीम की रिपोर्ट के मुताबिक 'पुलिस कार्रवाई' और उसके बाद की घटनाओं में पूरे राज्य में 27 से 40 हजार के बीच लोग मारे गये, कई जगहों पर सेना और सुरक्षा बलों के लोगों ने मुस्लिम पुरुषों को पकड़-पकड़कर बाहर निकाला और मौत के घाट उतार दिया। बीबीसी के मुताबिक इस रिपोर्ट को कभी प्रकाशित नहीं किया गया। पिछले दिनों कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के इतिहासकार सुनील पुरुषोत्तम ने यह रिपोर्ट ढूँढकर निकाली, तब यह सब बातें सामने आयीं!

हैदराबाद और हाशिमपुरा की घटनाओं का एक अलग चरित्र है, लेकिन शेषाचलम के साथ-साथ मणिपुर, पंजाब और जम्मू कश्मीर या कहीं भी ऐसी घटनाओं के पीछे पुलिस और सुरक्षा बलों का एक जैसा ही चेहरा बार-बार क्यों नजर आता है? 1995 में पंजाब में जसवन्त सिंह खालरा ने अमृतसर म्यूनिस्पैलिटी के रिकार्ड खँगालकर यह भंडाफोड़ किया था कि पुलिस ने हजारों लाशों का खुफिया तरीके से 'अन्तिम संस्कार' किया था। इस भंडाफोड़ के कुछ दिनों बाद ही खालरा की हत्या हो गयी! दस साल बाद छह पुलिसकर्मियों को खालरा की हत्या के आरोप में सजा हुई! अन्दाज लगा सकते हैं कि उस दौर में 'आतंकवाद के दमन' के नाम पर कितने निर्दोष लोग वहाँ मारे गये होंगे और खालरा के भंडाफोड़ से पुलिस क्यों इतना परेशान थी कि उन्हें उनके घर से 'उठवा' कर उनकी हत्या करा दी गयी! इरोम शर्मिला का नाम तो आपने सुना ही होगा। 2000 में मणिपुर के मलोम में एक बस स्टाप पर असम राइफल्स के लोगों ने गोलियाँ चलाकर दस निर्दोष लोगों को भून दिया। कहा गया कि यह सुरक्षाबलों और उग्रवादियों के बीच मुठभेड़ थी। बाद में उच्च न्यायालय ने पाया कि कोई मुठभेड़ हुई ही नहीं थी। इसी घटना के बाद से इरोम शर्मिला आफ्स्पा हटाने की माँग को लेकर अब तक संघर्ष कर रही हैं। अभी हफ्ते-भर पहले ही तेलंगाना में पाँच कथित मुस्लिम आतंकवादियों को पुलिस ने 'मुठभेड़' में मार डाला। पाँचों को हथकड़ियाँ लगी थीं और वह पुलिस की गाड़ी में ही अदालत ले जाये जा रहे थे। कहा गया कि उन्होंने पुलिस पर हमला कर दिया तो 'आत्मरक्षा' में पुलिस को गोली चलानी पड़ी। इसके पहले सोहराबुद्दीन, तुलसी प्रजापति और इशरतजहाँ मुठभेड़ में पुलिस की कहानी पंक्चर हो चुकी है। इशरतजहाँ मामले में तो सीबीआई ने एक आइबी अफसर पर पूरी साजिश रचने का आरोप लगाया। यह अलग बात है कि अब इन मामलों में 'क्लीन चिट' मिलने लग गयी है। अभी पिछले साल दिल्ली में स्पेशल सेल ने जम्मू कश्मीर के कथित आतंकवादी लियाकत शाह को पकड़कर पूरी फर्जी कहानी रची, बाद में एनआइए की जाँच में इसका भंडाफोड़ हो गया।

ये तमाम घटनाएँ पुलिस की कार्यप्रणाली पर गम्भीर सवाल उठाती हैं। यह सही है कि आतंकवाद, नक्सलवाद, उग्रवाद, दंगाइयों, तस्करों, माफियाओं के खिलाफ पुलिस और सुरक्षा बलों को पूरी मुस्तैदी से कड़ी कार्रवाई करनी चाहिए, उन पर किसी किस्म का कोई दबाव नहीं होना चाहिए, उन्हें अपने विवेक के आधार पर और परिस्थितियों के अनुसार तुरन्त फैसले लेने की आजादी होनी चाहिए, पुलिस और सुरक्षा बलों का मनोबल ऊँचा रहना चाहिए, लेकिन साथ ही यह भी जरूरी है कि फैसले किसी पूर्वग्रह से न लिये जायें, कोई फर्जीवाड़ा न किया जाये और इस बुनियादी उसूल का पालन किया जाये कि निर्दोष न मारे जायें और न जानबूझकर गलत आरोपों में फँसाये जायें। बरसों से हम पुलिस सुधारों की बात कर रहे हैं, लेकिन बस बात ही करते रहे हैं। पुलिस का काम कानून की रखवाली करना और उसका पालन कराना है। तो उस कानून को खुद भी मानने की पुलिस की जिम्मेदारी और जवाबदेही बनती है। एक न्यूनतम बुनियादी ईमानदारी और जवाबदेही के बिना कोई भी तंत्र सही काम नहीं कर सकता। मानवाधिकार आयोग या इस तरह के दूसरे तमाम उपकरण अब तक बेअसर ही साबित हुए हैं। इस पर हम अब नहीं सोचेंगे, तो कब सोचेंगे?

(राग देश डॉट कॉम से साभार)

संस्कृति

भूखा आदमी सड़क किनारे कराह रहा था। एक दयालु आदमी रोटी लेकर उसके पास पहँचा और उसे दे ही रहा था कि एक-दूसरे आदमी ने उसका हाथ खींच लिया। वह आदमी बड़ा रंगीन था।

पहले आदमी ने पूछा, क्यों भाई, भूखे को भोजन क्यों नहीं देने देते? रंगीन आदमी बोला, ठहरो, तुम इस प्रकार उसका हित नहीं कर सकते। तुम केवल उसके तन की भूख समझ पाते हो, मैं उसकी आत्मा की भूख जानता हूँ। देखते नहीं हो, मनुष्य-शरीर में पेट नीचे है और हृदय ऊपर। हृदय की अधिक महत्ता है। पहला आदमी बोला, लेकिन उसका हृदय पेट पर ही टिका हुआ है। अगर पेट में भोजन नहीं गया तो हृदय की टिक-टिक बन्द नहीं हो जायेगी! रंगीन आदमी हँसा, फिर बोला, देखो, मैं बतलाता हूँ कि उसकी भूख कैसे बुझेगी! यह कहकर वह उस भूखे के सामने बाँसुरी बजाने लगा। दूसरे ने पूछा, यह तुम क्या कर रहे हो, इससे क्या होगा? रंगीन आदमी बोला, मैं उसे संस्कृति का राग सुना रहा हूँ। तुम्हारी रोटी से तो एक दिन के लिए ही उसकी भूख भागेगी, संस्कृति के राम से उसकी जनम-जनम की भूख भागेगी। वह फिर बाँसुरी बजाने लगा। और तब वह भूखा उठा और बाँसुरी झपटकर पास की नाली में फेंक दी।

--हरिशंकर परसाई

बजट और नीतियों के आइने में मोदी सरकार

–विक्रम प्रताप

मोदी सरकार का हनीमून पीरियड खत्म हो चुका है और सरकार इतना पर्याप्त समय व्यतीत कर चुकी है जितने में किसी नव-दम्पति के घर में बच्चे की किलकारी गूँजने लगती हैं। लेकिन विकास का जो पालना सजाया गया था वह आज भी सूना है। एक साल में सरकार ने क्या किया?

पिछले 25 सालों में कोई भी पार्टी अकेले पूर्ण बहुमत हासिल नहीं कर पाती थी! जिसके कारण गठबन्धन सरकारें सत्ता में आती रहीं। तब अपनी जनविरोधी नीतियों के चलते बदनाम होने पर अपने बचाव में वे यह कहा करती थीं कि उन्हें अपनी सहयोगियों पार्टियों का भी ध्यान रखना पड़ता है। इसे गठबन्धन की मजबूरी कहकर प्रचारित किया जाता रहा, लेकिन पिछले लोकसभा चुनाव में भाजपा किसी भी अन्य पार्टी की अपेक्षा मतदाताओं को लुभाने में कामयाब रही। 31 प्रतिशत से अधिक मतदाताओं ने नरेन्द्र मोदी के नेतृत्त्व में भाजपा सरकार को देश की कमान सौंप दी। अब गठबन्धन की मजबूरी जैसा कोई बहाना नहीं रह गया।

भाजपा सरकार के आलाचकों को शिकायत है कि सरकार काला धन वापस लाने, हर नागरिक के बैंक खाते में 15 लाख रुपये जमा करने और एफडीआई के विरोध जैसे अपने चुनावी वादों से मुकर गयी। प्रधानमंत्री का 10 लाख का सूट भी लोगों की आँखों में चुभता है। ऐसे आलोचकों की शिकायतें बेहद सतही हैं। वे मोदी सरकार की नीतियों को गहराई से समझने का प्रयास नहीं करते। आखिर बार प्रधानमंत्री की विदेश यात्रा के क्या निहितार्थ हैं। क्यों प्रधानमंत्री को उनकी पार्टी के नेताओं की लफ्फाजी और बड़बोलेपन से विदेशियों के सामने शर्मिदा होना पड़ता है। भारत के विश्व गुरु होने का दम भरनेवाली पार्टी के प्रधान को अमरीकी राष्ट्रपति नसीहत देते हैं कि अपने देश में अमन-शान्ति बनाये रखें। कुल लब्बोलुबाब यह कि अगर आप अपने देश में विदेशी पूँजी को न्योता देना चाहते हो तो अपने जोकरों को काबू में रखो। घर वापसी और भूमि अधिग्रहण बिल जैसे मुद्दों पर सत्ता पक्ष और विपक्ष के बीच जो नूराकुश्ती चल रही है, उससे ऐसा लग रहा है कि जैसे हाथी-सी सरकार चींटी-सी विपक्ष के सामने नाक रगड़ रही है। इन सब मसलों के निहितार्थ को समझना जरूरी है। आइये इनकी छानबीन करें।

चुनावी रैलियों में माननीय प्रधानमंत्री जी यह कहा करते थे कि सबका साथ, सबका विकास। आइये देखे कि वे सबका विकास कैसे कर रहे हैं। बजट 2015 में यह प्रावधान किया गया है कि जनता के हित में चलायी जानेवाली योजनाओं में कटौती की जायेगी। सरकार सर्वशिक्षा अभियान में 6000 करोड़, मिड डे मिल योजना में 400 करोड़, समेकित बाल विकास कार्यक्रम में 8000 करोड़, महिलाओं से सम्बन्धित योजनाओं की मद में 20000 करोड़, परिवार कल्याण के खर्च में 5510 करोड़ और गरीबी उन्मूलन में 374 करोड़ रुपये की कमी करेगी। क्या माननीय प्रधानमंत्री यह मानते हैं कि इन योजनाओं के जरिये गरीब जनता को मिलनेवाली नाममात्र की सहूलियतें भी छीन लेने से देश का विकास होगा? इसी बजट में पूँजीपतियों को कॉरपोरेट टैक्स में 5 प्रतिशत की छूट दी गयी है। इसके चलते अगले वित्तीय वर्ष में सरकार की आय में 8315 करोड़ की कमी आयेगी। चुनाव से पहले नरेन्द्र मोदी ने एक टीवी कार्यक्रम में एक सवाल के जवाब में कहा था कि मार दो या काट दो पर भेदभाव नहीं करूँगा। लेकिन आज उनकी नीतियाँ कुछ और ही कहती हैं। वे आह्वान करते हैं कि अमीर लोग सब्सिडी लेना बन्द कर दें। टैक्स में 5 प्रतिशत की छूट से मदमस्त अम्बानी का बयान आया कि लो जी, हमने रसोई गैस की सब्सिडी छोड़ दी। कॉरपोरेट टैक्स में 5 प्रतिशत की छूट के बारे में सरकार का दावा है कि इससे भारत का बाजार और भी प्रतियोगी होगा, देशी-विदेशी कम्पनियाँ यहाँ अधिक निवेश करेंगी जिससे अधिक रोजगार पैदा होगा। कांग्रेस समेत सभी नवउदारवादी सरकारों का भी यही तर्क है और भारत की लगभग सभी छोटी-बड़ी पार्टियाँ नवउदारवाद के इसी तर्क से शासन चलाती हैं कि पूँजीपतियों को जितनी छूट देंगे, उतना ही देश का विकास होगा। पिछली मनमोहन सरकार ने 10 साल के अपने कार्यकाल में देशी-विदेशी कम्पनियों को बेतहासा छूट दी थी, जो गरीबों से लूटकर अमीरों की झोली भरने का अनन्य उदाहरण है। इस दौरान देश 6 से 8 प्रतिशत की रफ्तार से विकास करता रहा लेकिन रोजगार मुश्किल से 1 प्रतिशत की दर से बढ़ा। जबकि इसी बीच देश की कृषि व्यवस्था चौपट हो गयी। नतीजा यह कि पिछले 10 सालों में लाखों किसानों ने अपनी जिन्दगी खत्म कर ली। रोजगारविहीन विकास, घटती मजदूरी और बढ़ती महँगाई के चलते मेहनतकशों का जीना दूभर होता गया। मजदूरों-किसानों से लूटकर पूँजीपतियों की तिजोरी भरी गयी। अब भाजपा सरकार

भी उन्हीं नीतियों को और अधिक तेजी और क्रूरता से लागू कर रही है।

साम्रगी और सेवा कर (गुड्स एण्ट सर्विस टैक्स) को 12.36 प्रतिशत से बढ़ाकर 14 प्रतिशत कर दिया गया। सरकार आगामी वित्त-वर्ष में अप्रत्यक्ष करों से 23383 करोड़ रुपये जुटायेगी। भिखारी से लेकर अरबपति तक समान दर से अप्रत्यक्ष कर देते हैं। ऐसे में अप्रत्यक्ष करों में वृद्धि और कॉरपोरेट टैक्स में कमी से अरबपतियों की जेबें भरी जा रही हैं। यह गरीबों से लूटना और अमीरो में बाँटना नहीं तो क्या हैं?

सरकार ने रेल बजट आने का इन्तजार भी नहीं किया। पिछले साल नयी सरकार ने आते ही मालभाड़े में 6.5 प्रतिशत और यात्री किराये में 14 प्रतिशत की वृद्धि कर दी है। डीजल की कीमत गिरने के चलते पिछले 9 महीनों में रेलवे को 2178 करोड़ रुपये का फायदा हुआ। लेकिन सरकार ने यात्री किराये में कोई कमी नहीं की। इस तरह किराये में वृद्धि से नौकरी तलाशनेवाले बेरोजगार नौजवानों की मुश्किलें जरूर बढ़ गयी हैं। इससे अलग रेलवे बजट में सरकार ने उच्च श्रेणी की ग्राहक सेवा में कुछ सुधार जरूर किये हैं। जैसे-- 120 दिन पहले टिकट आरक्षण, 400 स्टेशनों पर निशुल्क वाईफाई, 1700 जैविक शौचालय, हाई स्पीड ट्रेन और चुनिन्दा शताब्दी गाड़ियों में मनोरंजन का इन्तजाम आदि। चकाचौंध भरे इन सतही सुधारों की आड़ में सरकार ने रेलवे में बड़े बदलावों का हौवा खड़ा किया है। रेलवे को निजी हाथों में सौंपने के लिए बिबेक देवराय को रेलवे रिस्ट्रक्चरिंग कमेटी का सचिव बनाया गया है। देवराय निजीकरण और नवउदारवादी नीतियों के कट्टर समर्थक हैं। सच तो यह है कि रेलवे को निजी हाथों में सौंपने का इरादा मनमोहन सरकार ने ही बना लिया था। इसी के मद्देनजर रेलवे की जमीन और अचल सम्पत्ति बेचने के लिए 'रेलवे लैण्ड डेवलपमेंट अथॉरिटी' जैसी संस्था बनायी गयी और 2009 से 2012 के बीच रेलवे की 2500 करोड़ रुपये की जमीन लीज पर निजी कम्पनियों को सौंप दी गयी। इसी कार्य को आगे बढ़ाते हुए रेलवे को निजी कम्पनियों के हवाले करने की पूरी तैयारी हो चुकी है। इससे एक ओर जहाँ निजी कम्पनियों के आने से रेलवे आम जनता से दूर हो जायेगी, वहीं दूसरी ओर रेलवे की सभी नौकरियाँ निजी ठेकेदारों के अधीन कर दी जायेंगी। इससे कर्मचारियो के हितों पर जबरदस्त हमला होगा। रेलमंत्री ने बजट में प्लेटफार्म टिकट का दाम दुगुना कर दिया जो अब 10 रुपये का मिलेगा। इसके साथ ही डिविजनल रेलवे मैनेजर को यह अधिकार दिया गया है कि वह चाहे तो प्लेटफार्म टिकट को 10 रुपये से अधिक कर सकता है। महँगे टिकट के चलते अब गरीब परिवार अपने रिश्तेदारों को स्टेशन पर जाकर विदा करने में भी हिचकेगा। इससे सरकार कितनी जबरदस्त कमाई करेगी, इसका अन्दाजा लगाने के लिए यह तथ्य जान लेना ही पर्याप्त होगा कि मात्र दिल्ली के चारों बड़े स्टेशनों पर हर महीने 50 हजार प्लेटफार्म टिकट बिकते हैं।

पर्यावरण मंत्रालय ने पर्यावरण विरोधी रुख अख्तियार कर लिया है। पर्यावरण संकट की मार झेल रहे देश को राहत देने के बजाय अब सरकार कम्पनियों को धड़ाधड़ पर्यावरण की मंजूरी देगी। इसके लिए 60 दिन से अधिक समय नहीं लिया जायेगा। देश-भर में पर्यावरण संरक्षण के लिए सैकड़ों संगठनों को नकारते हुए यह फैसला लिया गया है। इस फैसले के लागू होने पर पर्यावरण प्रदूषण के लिए कम्पनियों को रोका नहीं जा सकेगा। गौरतलब है कि पर्यावरण प्रदूषण को सबसे अधिक नुकसान निजी कम्पनियाँ पहुँचाती हैं। लेकिन वे लगातार पर्यावरण संरक्षण की जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ लेती हैं। इन्हीं कम्पनियों को फायदा पहुँचाने के लिए पर्यावरण मानदण्डों की अनदेखी की जा रही है। एक अन्य मामलें में नर्मदा नदी पर बन रहे सरदार सरोवर डैम की ऊँचाई 121.92 मीटर से बढ़ाकर 138.72 मीटर करने का फैसला लिया गया है। यह फैसला कोर्ट और जनता की पूरी तरह अनदेखी करके लिया गया है। इस फैसले से विस्थापितों की सूची में 250,000 लोग और जुड़ गये हैं। जबकि जो पहले से विस्थपित हैं उनका सर्वोच्च न्यायालय के आदेश के बावजूद पूरी तरह पुनर्वास नहीं किया गया। पर्यावरण मामले में ही कांग्रेस सरकार ने माधव गाड़गिल द्वारा पेश पश्चिमी घाट की रिर्पोट को कूड़ेदान में डाल दिया था। यह रिर्पोट पर्यावरण संरक्षण और स्थानीय जनता के पक्ष में थी। उस समय भाजपा ने गाडगिल की रिर्पोट को लागू करने के लिए सरकार से मांग की थी। लेकिन आज वह उसे लागू करने में हीला-हवाली कर रही है। इतना ही नहीं, गोवा की भाजपा सरकार ने भी गाड़गिल की पर्यावरण पर खनन के प्रभाव की रिपाट दबा दी।

केन्द्र सरकार ने योजना आयोग को विघटित करके राष्ट्रीय भारत परिवर्तन संस्थान (नीति आयोग) बनाया है। इसका गठन देश के नीतिगत फैसलों को बदलने के लिए किया गया है। ताकि आर्थिक सुधारों की दिशा में तेजी से आगे बढ़ा जा सके। हालाँकि मनमोहन सरकार ने अपने कार्यक्रम में ही योजना आयोग के स्वरूप में कई बदलाव किये थे, ताकि आयोग का रूप कॉरपोरेट घरानों के अनुरूप बनाया जा सके। यह जरूर हुआ कि योजना आयोग की बदौलत ही पंचवर्षीय योजनाओं के जरिये देश को आगे बढ़ाया गया। दिक्कत तो बस इतनी थी कि इस आयोग के चलते गरीबों के गुजर-बसर के लिए जो नीतियाँ बन जाती थीं उन्हें कैसे रोका जाये? गरीबी हटाओ, जवाहर रोजगार योजना, इन्दिरा आवास योजना और काम के बदले अनाज योजना और हरित क्रान्ति आदि योजनाएँ इस आयोग की देन है। यह आयोग देश के विकास का नक्शा तैयार करने और संसाधनों के उचित बँटवारे की दिशा में एक हद तक काम करता था। यह नीतियों के मूल्याँकन और उसमें सुझाव देने का भी काम करता था। बेशक योजना आयोग इसी पूँजीवादी दायरे में काम करता था। इसलिए उसमें

कमियाँ होनी लाजमी थीं। लेकिन उसे दुरुस्त करने के बजाय खत्म कर देना और उसकी जगह नीति आयोग के गठन के अर्थ बहुत गहरे हैं। कॉरपोरेट घराने के लिए बेरोक-टोक काम किया जा सके, इसके लिए योजना आयोग की टोका-टाकी से निजात पा लिया गया। इसके जरिये जनता को मिलनेवाली नाममात्र की सहूलियतें जैसे- शिक्षा, स्वास्थ्य, खाद्य सुरक्षा और आजीविका को भी छीन लिया जायेगा।

राज्य संचालित कोल इण्डिया लिमिटेड के विनिवेश और पुनर्संरचना के विरोध में देश की पाँच बड़ी ट्रेड यूनियानों के मजदूर 6 नवम्बर से 5 दिवसीय हड़ताल पर चले गये। इससे एक ओर 15 लाख टन कोयले के उत्पादन में बाधा पहुँचने से ऊर्जा का संकट पैदा हो गया तो दूसरी ओर सरकार की जनविरोधी नीतियाँ सतह पर आ गयीं। भाजपा सरकार यह मन्सूबा बाँध रही थी कि उसके भगवा संगठन लोगों को हिन्दुत्व की पट्टी पढ़ाकर गुमराह करते रहेंगे और सरकार इसका फायदा उठाकर सार्वजनिक उपक्रमों को देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हवाले कर देगी। उसे इतने जबरदस्त विरोध की उम्मीद नहीं थी। लाखों कोयला मजदूरों के हड़ताल पर जाने से सरकार की उम्मीदों पर पानी फिर गया। जो बदनामी हुई सो अलग। सरकार ने कदम वापस खींच लिया। हड़ताल तीन दिन में खत्म हो गयी। लेकिन सरकार अपने इन कदमों को लागू करने के लिए आमदा है। हाँ, यह तय है कि इस कार्य को वह कई चरणों में और चोरी छिपे करेगी। कोल इण्डिया के 2.86 लाख स्थायी कर्मचारी और 65 हजार ठेका कर्मचारी उसके गले की फाँस बन गये हैं। इतना सब होने के बावजूद भी सरकार सार्वजनिक कम्पनियों के शेयर बेचकर 18 हजार करोड़ कमा चुकी है। जबकि अगले साल तक उसका लक्ष्य 56,900 करोड़ का है। देश की सम्पदा बेचने के लिए खरीददार का होना जरूरी है। खरीददार को लुभाने के लिए प्रधानमंत्री मोदी लगातार विदेश यात्रा में व्यस्त हैं। सरकार की मुख्य चिन्ता इस बात को लेकर है कि विदेशी कम्पनियाँ किसी देश में निवेश करने के लिए स्टैण्डर्ड एण्ड पुअर जैसी रेटिंग एजेन्सियों पर भरोसा करती हैं। अमरीका की यह एजेन्सी दुनिया-भर की गरीब जनता की विरोधी है। वह इस बात पर विश्वास करती है कि अमीरों की सम्पत्ति बढ़ाने के लिए गरीबों के मुँह से निवाला छीनना जरूरी है। जो देश अपनी जनता के हित में योजनाएँ बनाता है, किसानों को सब्सिडी देता है, छात्रों को सस्ती शिक्षा और बीमार लोगों का सस्ता इलाज मुहैया करता है, यह एजेन्सी उसकी रेटिंग नीचे गिरा देती है। जिससे विदेशी निवेशक और कॉरपोरेट घराने यह समझ जाते है कि उस देश को लूटना आसान नहीं। ऐसी कम्पनियों के रास्ते में लाल कालीन बिछाने के लिए ही सरकार जनता की सब्सिडी और उसकी गाढ़ी कमाई की आखिरी कौड़ी भी छीन लेना चाहती है। अध्यादेश के जरिये भूमि अधिग्रहण बिल लागू करने की बेचैनी इसी दिशा में हताशा भरी कोशिश है। अमरीकी कम्पनियों की कॉरपोरेट खेती करने की मंशा किसी से छिपी बात नहीं है। इस बात को ध्यान में रखते हुए जानबूझकर भारत की कृषि को संकट में झोक दिया गया। नतीजा यह कि पिछले 25 सालों में 7 लाख से अधिक किसान आत्महत्या कर चुके हैं और देश के 76 प्रतिशत किसान खेती छोड़ देना चाहते हैं। सरकार नये भूमि अधिग्रहण कानून के जरिये परेशान किसानों की जमीन आसानी से छीन सकेगी। जिसे कॉरपोरेट खेती और विशेष आर्थिक क्षेत्र के नाम पर देशी-विदेशी कम्पनियों को सौंप दिया जायेगा। इस मामले में भाजपा और कांग्रेस सरकार में ज्यादा अन्तर नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि एक पार्टी सत्ता में रहती है, तो दूसरी विपक्ष में। इतना कुछ सहने, जानने और ठोकर खाने के बाद शायद हम यह सीख जायें कि नेता जैसे महान लोग भी झूठ बोलते हैं! निजी स्वार्थ में अन्धे होते हैं। हाथी की तरह उनके खाने के दाँत कुछ और, दिखाने के कुछ और होते हैं।

प्रधानमंत्री मोदी के चमत्कारी कामों के कारण उनका चमत्कारी व्यक्तित्व फीका पड़ता जा रहा है। अच्छे दिन के ख्वाब हवा हो गये। 56 इंच का सीना गायब है। लोगों का मानना हैं कि अगर अब मोदी जी चुनाव लड़ेंगे तो जीतना सम्भव नहीं। लेकिन कुल मिलाकर मामला किसी एक व्यक्ति या एक पार्टी का नहीं है। 1990 में अमरीका ने विश्व बैंक और आईएमएफ की मदद से भारत पर वैश्वीकरण और निजीकरण की नीतियाँ थोप दी थीं। तब से सभी सरकारें इन्हीं नीतियों को अपनाती आ रही हैं। पूँजीवादी लोकतंत्र में चुनाव व्यक्ति या पार्टी का होता है। नीतियों का नहीं। चुनाव के बाद कोई भी सरकार आये, वह उन्हीं जनविरोधी नीतियों को लागू करती है, जिनका विपक्ष में रहते हुए विरोध करती थी। इसके चलते वह जनता की नजरों में हीरो से जीरो बन जाती है। चुनावी लोकतंत्र के अधीन जनता साँप और मगरमच्छ के बीच चुनने के लिए मजबूर है। जनता की मुश्किलें तभी हल होंगी जब वह इस अन्याय के खिलाफ गोलबन्द हो जायेगी।

मारी अन्तुआने (फ्रांसीसी क्रान्ति की सांध्य बेला में वहाँ की सम्राज्ञी) का यह कहना कि ब्रेड नहीं है तो केक-बिस्कुट खाओ।

और आज के संकटकाल में शासक पक्ष के रोज-रोज आ रहे बयान कि दो बच्चे नहीं पलते तो क्या हुआ, दस बच्चे पैदा करो, मूत्र सिंचाई योजंना को अपनाओ, विकास की वेदी पर जमीन होम करो, पाँच लाख गाँवों की छोड़ो, सौ स्मार्ट सिटी की बात सोचो, लटक-पटक-कट-मार रेल की छोड़ो, बुलेट ट्रेन की बात करो। क्या इनमें कोई मेल है?

कर आतंकवाद क्या है?

हाल ही में प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने भारतीय कर प्रबन्धन को लेकर नाराजगी जताते हुए केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर बोर्ड (सीबीडीटी) से जन असन्तोष पर काबू पाने के लिए कहा है। यहाँ तक कि वे आयकर विभाग के कठोर बर्ताव को 'कर आतंकवाद' कहने की हद तक चले गये। इसके ठीक बाद कॉरपोरेट महाप्रभुओं को प्रसन्न करने के लिए आयकर विभाग ने 29 जनवरी को अपने सभी क्षेत्र अधिकारियों को आदेश दिया कि शेयरों की लेन-देन से होनेवाली आय पर कर वसूलने के लिए किसी भी कम्पनी के खिलाफ कोई कार्रवाई न करें क्योंकि इससे देशी-विदेशी कॉर्पोरेट समुदाय और पूँजी निवेशक 'आतंकित' हो जायेंगे।

इस कहानी की शुरुआत कांग्रेस नेतृत्ववाली पिछली सरकार के दौरान ही हो गयी थी जब तत्कालीन वित्तमंत्री प्रणव मुखर्जी (जो आजकल राष्ट्रपति हैं) ने उन कम्पनियों से कर वसूलने का प्रस्ताव रखा था जो सिर्फ कर में छूट लेने के लिए पैसे का लेन-देन करते हैं और जिसके पीछे कोई वास्तविक व्यवसायिक कारोबार नहीं होता है। तब पूँजीपति वर्ग और उनके पैरोकारों ने खूब हो-हल्ला मचाया था। इसी के चलते प्रणव मुखर्जी को वित्त मंत्रालय से हटाकर राष्ट्रपति के सजावटी पद पर बिठा दिया गया, जहाँ उनको आर्थिक नीतियों के बारे में कुछ भी करने या कहने का मौका ही न मिले। वे जिस कानून का प्रस्ताव लाये थे उसका नाम जनरल एंटी-एव्वायडेन्स रूल (गार) था, जिसका मकसद न सिर्फ वर्त्तमान में कर में छूट लेने के लिए पैसे की लेन-देन या जुगाड़बाजी को रोकना था, बल्कि कम्पनियों की पिछली कारगुजारियों को भी इस कानून के दायरे में लाना था। जाहिर है कि उनका यह कदम भारतीय अर्थनीति के छल-छिद्रों से फायदा उठानेवाले पूँजीपतियों के हित में नहीं था।

पिछले आम चुनाव से पहले बड़े पूँजीपतियों के संगठन-- फिक्की के एक सम्मलेन में भाजपा ने वादा किया कि सरकार में आने के बाद वह टैक्स नीति में हर तरह की अनिश्चयता खतम करेगी। टैक्स टेररिज्म यानी कर आतंकवाद का जुमला वहीं से प्रचलन में आया था। आज सरकार तेज रफ्तार से अपने वादे को पूरा करने में लगी है। इसके पीछे तर्क यह है कि कठोर टैक्स नीति दुनिया-भर के निवेशकों को आतंकित करती है और उन्हें भारत में पूँजी लगाने से निरुत्साहित करती है।

अब हमें एक बार उन मामलों पर नजर घुमाना चाहिए जिनके चलते पूँजीपति समुदाय आतंकित हुआ तथा भाजपा को उनके आँसू पोंछने और दिल जीतने का मौका दिया।

सन 2007 में जब वोडाफोने ने हचिन्सन का मालिकाना खरीदा तब उसे इस लेन-देन के लिए सरकार को 11200 करोड़ रुपया कर देना था। उसने नहीं दिया। इसके साथ ही उसे 8500 करोड़ रुपये हस्तान्तरण कर भी देना था, उसने वह भी नहीं दिया। उसकी कुल राशि-- बकाया कर, उस पर ब्याज और जुर्माना मिलाकर 23000 करोड़ हो गया। शुरू से ही वोडाफोन यह कर देने से साफ मना कर रहा था। जब किसी भी तरीके से बात नहीं बनी तब वह न्यायालय के पास गये और पिछले साल की 10 अक्टूबर को आयकर विभाग को यह पता चला कि संविधान के अनुसार वे सही होते हुए भी कानूनन गलत है। मुम्बई उच्च न्यायलय ने वोडाफोन को टैक्स चुकाने से बरी कर दिया। सरकार ने इस मामले को आगे लड़ने से इनकार किया और मामला रफा-दफा हो गया।

इस तरह आयकर विभाग द्वारा किसी कम्पनी को 'आतंकित' किये जाने की घटना का भी पटाक्षेप हो गया।

टैक्स बचाने के कई चोर दरवाजे हैं, लेकिन फिर भी कम्पनियाँ टैक्स देने में आनाकानी करती हैं और सरकार उनका बाल बाँका नहीं कर पाती। इसके कुछ चर्चित उदहारण हैं--

बहुराष्ट्रीय पेट्रोकेमिकल कम्पनी शेल इंडिया ने अपनी कम्पनी का कुल मूल्य कम दिखाकर 15200 करोड़ का टैक्स बचा लिया।

लाइटन इंडिया ने अपनी आय कम दिखाकर सन 2008-09 में 900 करोड़ रुपया टैक्स बचाया।

अमरीकी बहुराष्ट्रीय कम्पूटर कम्पनी आईबीएम का बकाया टैक्स 5357 करोड़ है।

एक समय मोबाइल फोन की दैत्याकार कम्पनी रह चुकी नोकिया के ऊपर आज भी 21153 करोड़ रुपया बकाया है।

एक और इजारेदार कम्पनी जनरल मोटर्स (जीएम), जिसने अपने फर्जीवाड़े की करतूत को अदालत में स्वीकार भी किया है, उसने टैक्स का 11 करोड़ अभी तक नहीं दिया है। टैक्स चोरों की यह सूची काफी लम्बी है।

सिर्फ यही नहीं कि विदेशी कम्पनियाँ टैक्स देने से बचती हैं, आयकर विभाग के दबाव का मुकाबला करने के लिए वे अपने देश की सरकारों से दबाव भी डलवाती हैं। वोडाफोन ने भारत सरकार पर नीदरलैंड सरकार से दबाव डलवाने की कोशिश की थी। जब तक न्यायालय ने उसके पक्ष में फैसला नहीं दी थी, वोडाफोन कम्पनी भारत सरकार को धमकाती रही कि वह इस मामले को अन्तरराष्ट्रीय मुद्दा बनायेगी। उसने कहा था कि यह मामला भारतीय न्याय-व्यवस्था के अधिकार क्षेत्र से बाहर, भारत-नीदरलैंड द्विपक्षीय करार के अधीन है। यह गौर करनेवाली बात है कि कैसे एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी भारत की सार्वभौम

सरकार को नकारने की जुर्रत करती है।

अब मीडिया और इन कम्पनियों के चाटुकार जो हर राजनीतिक पार्टी में विराजमान हैं, एकसाथ मिलकर 'कर आतंकवाद मुर्दाबाद' का नारा लगा रहे हैं, जब कि मामला टैक्स चोरी का है। और देशी-विदेशी कम्पनियों को रिझाने के मामले में कांग्रेस भी भाजपा से पीछे नहीं है। पूर्व वित्तमंत्री पी चिदम्बरम ने मोदी सरकार की आलोचना करते हुए कहा कि उनके पास भी अगर 280 सांसद होते तो चुटकी में वे गार जैसे कानून को खारिज कर देते, जो पूँजीपतियों के लिए हानिकारक है।

एक तरफ हम देखते हैं, जब भी जनता सामाजिक सुरक्षा, जन-शिक्षा, स्वास्थ्य आदि क्षेत्र में ज्यादा ध्यान देने की माँग करती है, तो सरकार तुरन्त पैसे का रोना रोने लगती है। दूसरी तरफ सरकार चाहे किसी भी पार्टी की हो, इस देश की टैक्स नीति को ताक पर रख कर बड़ी कम्पनियों को हजारों करोड़ रुपया नजराना देने के लिए तत्पर रहती है। 2014-15 में ऐसी कम्पनियों को कुल 5,73,000 करोड़ रुपये की टैक्स छूट दी गयी। अनुमान है कि इस साल भी उनको कम से कम इतनी छूट तो दी ही जायेगी।

हम एक ऐसी स्थिती में खड़े हैं जहाँ वित्तमंत्री को पूँजीपतियों की सभा में सफाई देनी पड़ती है कि मिनिमम अल्टरनेटिव टैक्स (मैट) 'कर-आतंकवाद' नहीं है। यानी वे कॉरपोरेट टैक्स 30 से घटाकर 25 प्रतिशत करने पर भी खुश नहीं हैं। लेकिन टैक्स टेररिज्म का जुमला आखिर किसने उछाला था? इसे कहते हैं मियाँ की जूती मियाँ के सिर। लेकिन अन्तिम मार तो आम जनता पर ही पड़नी है।

गुजरात में 25,000 करोड़ का विवादित लेन-देन

जिस गुजरात मॉडल की रुपहली तस्वीर दिखाकर केन्द्र सरकार ने साल-भर पहले लोकसभा चुनाव जीता था, उसके दाग-धब्बे बदनुमाई कैग (कम्ट्रोलर एण्ड ऑडिटर जनरल) की रिपोर्टों से सामने आ रही है। कैग ने गुजरात में नरेन्द्र मोदी के मुख्यमंत्रित्व काल के अन्तिम दिनों से सम्बन्धित पाँच रिपोर्टें 2014 के मध्य में पेश की थी। इनमें 25 हजार करोड़ रुपये के विवादित लेन-देन, वित्तीय फिजूलखर्ची और राज्य पर कर्ज के भारी-भरकम बोझ का खुलासा किया गया था। इन रिपोर्टों को राज्य विधानसभा के पिछले बजट सत्र के अन्तिम दिन पटल पर भी रखा गया था। रिपोर्टों के निष्कर्षों पर राज्य सरकार को घेरने की कोशिश के चलते विपक्ष को उसके वाक-आउट से पहले ही सदन की कार्यवाही को निलम्बित कर दिया गया। इन रिपोर्टों पर 24 घण्टे के खबरिया चैनलों और अधिकांश हिन्दी-अंग्रेजी अखबारों की खामोशी का कारण जगजाहिर है।

* कैग ने वित्त वर्ष 2012-13 में 5570 करोड़ रुपये के अतिरिक्त राजस्व प्राप्ति के सरकारी दावे को झूठा पाया है।

* रिपोर्ट बताती है कि राज्य सरकार ने 2667 करोड़ के चैकों को 31 मार्च 2013 की तय तारीख तक भुनाया ही नहीं और खर्च को बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया।

* कैग ने जाँच में पाया कि शून्य या कम कर वसूली, राजस्व नुकसान का कम आकलन, गलत गणना, गलतियों का छुपाव और पिछले 5 सालों में 5411 करोड़ रुपये के टर्नओवर की समाप्ति जैसी अनियमितताओं के चलते राज्य का वित्त प्रबन्धन तेजी से गिर रहा है।

* वित्त प्रबन्धन और राजस्व वसूली के प्रति सरकार की बेरुखी के बारे में कैग का कहना है कि ''यहाँ तक कि चिन्हित करने के बाद भी सरकार ने अवलोकन का केवल 2.93 प्रतिशत ही स्वीकार किया और केवल 0.17 प्रतिशत की ही वसूली की। 2006 में वैट लागू होने के 7 साल बाद भी यह कुछ निकायों में लागू नहीं हो पाया है और इसकी गैर मौजूदगी के चलते मालों के डीलरों द्वारा हासिल किया गया कर लाभ (इनपुट टैक्स क्रेडिट) प्रमाणित नहीं किया जा सका है।''

* मोदी सरकार का यह दावा कि केन्द्र की कॉंग्रेस गठबन्धन सरकार ने राज्य को तय अनुदान नहीं दिये, कैग ने सरासर झूठा बताया और कहा कि बहुत से अनुदान इस्तेमाल न होने के चलते वापस चले गये।

* कैग के जाँचकर्त्ताओं ने पाया कि वित्तीय वर्ष 1999-2000 और 2011-12 में गुजरात सरकार ने 13,409 करोड़ रुपये से ज्यादा के अनुदानों का उपयोग नहीं किया।

* सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के जादुई रूपान्तर के राज्य सरकार के दावे भी कैग की जाँच में झूठे पाये गये और उसने रिपोर्ट में बताया कि ये उद्यम 4,892 करोड़ रुपये के भारी-भरकम घाटे में हैं।

* कैग ने अपनी जाँच में खुलासा किया है कि गुजरात में केशुभाई पटेल के शासन के अन्त के समय राज्य की वित्तीय देनदारी या कर्जभार 50 हजार करोड़ था। नरेन्द्र मोदी के शासनकाल में राज्य पर कर्ज का भार रॉकेट की रफ्तार से बढ़ा। 2008-09 में राज्य पर 1.05 लाख करोड़ रुपये का कर्ज हो गया और 2012-13 में कर्ज भार तीन गुणा बढ़कर 1.66 लाख करोड़ तक पहुँच गया।

कैग ने चेतावनी दी है कि बढ़ती वित्तीय देनदारियाँ माध्यम से लम्बी अवधी

में राज्य को असहनीय कर्ज में धकेल सकती है।

कैग की रिपोर्ट के इन चन्द बिन्दुओं से ही स्पष्ट है कि गुजरात मॉडल और उसके वित्तीय प्रबन्धन का जो बवण्डर खड़ा किया गया था वह बिल्कुल खोखला और झूठ पर टिका था। गुजरात में नरेन्द्र मोदी के स्वच्छ शासन की विशेषता थी कि वह पूँजीपतियों, सेठों, साहुकारों को अनैतिक लाभ तो पहुँचाता ही था साथ ही उनसे राज्य द्वारा तय किये गये करों की वसूली भी नहीं करता था। गुजरात मॉडल ने वहाँ की जनता को दहशत का माहौल, झूठ का अम्बार और कर्ज का बोझ दिया है। यही गुजरात मॉडल अब आदर्श के रूप में पूरे देश की जनता पर लागू किया जा रहा है।

शिक्षा अधिकार कानून पाँच साल में अढाई कोस भी नहीं खिसका

कोहरे से ढँकी सड़क पर
बच्चे काम पर जा रहे हैं
सुबह सुबह

बच्चे काम पर जा रहे हैं
हमारे समय की सबसे भयानक पंक्ति है यह
भयानक है इसे विवरण के तरह लिखा जाना
लिखा जाना चाहिए इसे सवाल की तरह

काम पर क्यों जा रहे हैं बच्चे?

क्या अन्तरिक्ष में गिर गयी हैं सारी गेंदें
क्या दीमकों ने खा लिया है
सारी रंग-बिरंगी किताबों को
क्या काले पहाड़ के नीचे दब गये हैं सारे खिलौने
क्या किसी भूकम्प में ढह गयी हैं
सारे मदरसों की इमारतें
क्या सारे मैदान, सारे बगीचे और घरों के आँगन
खत्म हो गये हैं एकाएक
तो फिर बचा ही क्या है इस दुनिया में?
कितना भयानक होता अगर ऐसा होता
भयानक है लेकिन इससे भी ज्यादा यह
कि हैं सारी चीजें हस्बमामूल

पर दुनिया की हजारों सड़कों से गुजते हुए
बच्चे, बहुत छोटे-छोटे बच्चे
काम पर जा रहे हैं।

राजेश जोशी ने बहुत पहले यह कविता लिखी थी, शायद पच्चीस साल पहले। इस बीच शिक्षा को लेकर हमारे देश में दो विरोधाभाषी नीतियाँ संसद में स्वीकृत हुईं। एक, अस्सी के दशक में राजीव गाँधी की नयी शिक्षा नीति, जिसने शिक्षा का निजीकरण करके शिक्षा को महँगा कर दिया और जिसके चलते गरीबों के लिए पढ़ना-लिखना पहले से कहीं अधिक मुश्किल हो गया। दूसरा, अब से पाँच साल पहले संसद में पारित शिक्षा अधिकार कानून और सर्व शिक्षा अभियान, जिसमें दावा किया गया था कि अगले पाँच साल में 6 से 14 साल की उम्र के सभी बच्चों को सरकार मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा देगी। पहले जो संविधान का नीतिनिर्देशक तत्त्व था उसे बाजाप्ता कानून का रूप दे दिया गया। इस कानून को देश-भर में पूरी तरह लागू करने के लिए सरकार ने पाँच साल की मोहलत ली थी। अब वह निर्धारित समय सीमा (31 मार्च 2015) बीत गयी, लेकिन इस कविता में जिन स्थितियों और भावों का इजहार किया गया था, वे आज भी ज्यों के त्यों हैं और हमारे जनतंत्र के पहरुओं की असली मन्शा उजागर कर रहे हैं। आज भी 3.45 करोड़ बच्चे स्कूल से बाहर हैं। दुनिया के 247 देशों में से 219 देशों की तो कुल आबादी भी इतनी नहीं है।

अगस्त 2009 में शिक्षा अधिकार कानून संसद में पास हुआ था। आजादी के 62 वर्षों बाद काफी संघर्ष और दबाद के चलते यह कानून बना, जबकि संविधान के नीति निर्देशक तत्त्वों में ही 14 वर्ष की उम्र तक अनिवार्य और मुफ्त शिक्षा देने की बात कही गयी थी। हालाँकि इस कानून में सरकार ने एक से छह साल तक बच्चों की शिक्षा को शामिल नहीं किया। सरकार की आधी-अधूरी मंशा को लेकर कई शिक्षा शास्त्रियों, शिक्षा सलाहकारों और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने रोष प्रकट किया था। विडम्बना तो यह कि उस आधे अधूरे कानून को भी लागू करने और सर्वशिक्षा अभियान को जमीन पर उतारने में सरकार पूरी तरह अक्षम रही है।

इस कानून में कुछ ऐसे मापदण्ड तय किये गये जिससे बच्चों को न केवल अनिवार्य रूप से दाखिला हो, बल्कि उन्हें बेहतर शिक्षा भी हासिल हो। स्कूल चाहे सरकारी हो या निजी प्रबन्धन के अधीन, उनके लिए यह सुनिश्चित करना जरूरी है कि

बच्चों के लिए पीने का पानी, साफ शौचालय, बिजली, खेल का मैदान, पुस्तकालय और चारदिवारी का समुचित बन्दोबस्त हो। यह भी प्रावधान किया गया कि जिन बच्चों ने अब तक स्कूल में नाम नहीं लिखाया हो, उनकी गिनती की जाय और उन्हें स्कूल लाया जाय। साथ ही स्कूल में भीड़-भाड़ को रोकने के लिए छात्र-शिक्षक अनुपात पहली से पाँचवीं कक्षा तक 1:30 पाँचवीं से आठवीं तक 1:35 से अधिक न हो, इसे भी सुनिश्चित करना जरूरी बनाया गया। प्रशिक्षित और योग्य शिक्षकों की बहाली भी एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य तय किया गया।

कानून को 1 अप्रैल 2010 से प्रभावी मान लिया गया। इसी के साथ तय किया गया कि 31 मार्च 2015 तक सभी लक्ष्य हासिल कर लिये जायेंगे। निर्धारित समय सीमा समाप्त होने के बाद आज इस कानून की उपलब्धियों का लेखा-जोखा लेने पर इस कानून की हास्यास्पद तस्वीर सामने आती है।

कानून लागू करते समय यह दावा किया गया था कि अगले पाँच वर्षों में 6 से 14 साल के सभी बच्चों का स्कूल के सभी बच्चों का स्कूल में दाखिला कराया जायेगा। सच्चाई यह है कि आज भी 3 करोड़ 45 लाख बच्चे स्कूल से बहिष्कृत हैं।

यह लक्ष्य रखा गया था कि स्थाई शिक्षकों के सभी खाली पदों पर नियुक्ति की जायेगी, जबकि आज भी 5 लाख 4 हजार शिक्षकों के पद खाली हैं। यह भी कहा गया था कि अब से ठेके पर शिक्षकों की भर्ती नहीं होगी और सभी अस्थाई शिक्षकों का स्थाईकरण किया जायेगा, जबकि आज भी 5 लाख 8 हजार शिक्षक ठेके पर काम कर रहे हैं।

कानून के मुताबिक मार्च 2015 तक सभी स्कूलों का नियमितीकरण करना अनिवार्य था और जिन स्कूलों को मान्यता नहीं मिली हो, उन्हें बन्द करना जरूरी था। तथ्य यह है कि 80.2 प्रतिशत स्कूल सरकारी है, 2 लाख 52 हजार सरकारी सहायता प्राप्त निजी स्कूल हैं और 68 हजार गैर सहायता प्राप्त निजी स्कूल हैं। आज भी गली-गली में कुकुरमुत्ते की तरह निजी स्कूल खुल रहे हैं और 6 से 14 साल की उम्र के बच्चे भारी संख्या में इन्हीं स्कूलों के जरिये शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

स्कूलों के नियमितीकरण की तो बात ही क्या, उलटे पिछले 5 वर्षों में लगभग 1 लाख सरकारी स्कूलों को बन्द कर दिया गया। इसके पीछे तर्क यह कि वहाँ बहुत कम संख्या में बच्चों का नामांकन हुआ। कहाँ तो तय था कि शिक्षा की गुणवत्ता बढ़ाने के लिए निजी स्कूलों को सरकारी मान्यता प्रदान की जायेगी, कहाँ स्कूल बन्द करके लाखों बच्चों को शिक्षा से ही वंचित कर दिया गया।

यह तय किया गया था कि सभी स्कूलों में शिक्षक-छात्र अनुपात प्राथमिक स्कूलों में 1:30 और उच्च प्राथमिक स्कूलों में 1:35 होना जरूरी है। स्थिति यह है कि देश-भर में आधे जिलों में यह अनुपात गड़बड़ है, यानी छात्रों को पढ़ाने के लिए पर्याप्त शिक्षक नहीं हैं। इस अनुपात का पालन न करनेवाले अधिकांश स्कूल बिहार, गुजरात, झारखण्ड, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश और पश्चिम बंगाल में हैं।

सेवा के दौरान शिक्षकों के प्रशिक्षण में पहले से भी गिरावट आयी है। 2011 में 40.21 प्रतिशत शिक्षकों ने प्रशिक्षण प्राप्त किया था जबकि 2014 में सिर्फ 22 प्रतिशत। निजी गैर सहायता प्राप्त स्कूलों के सिर्फ 3.32 प्रतिशत शिक्षकों को ही प्रशिक्षण प्राप्त हुआ जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया, 5 लाख से अधिक ठेके पर रखे गये हैं, जिनमें से 55 प्रतिशत शिक्षक ही प्रशिक्षित हैं।

शिक्षा प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थिति भी अच्छी नहीं है। पहले अधिकांश शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय सरकारी थे, जहाँ मुफ्त और बेहतर प्रशिक्षण दिया जाता था। प्रशिक्षण प्रणाली शिक्षा के निजीकरण की आँधी में मटियामेट हो गयी। आज 95 प्रतिशत शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय निजी हाथों में हैं, जिनका एक मात्र उद्देश्य मुनाफा बटोरना है। शिक्षकों की गुणवत्ता में गिरावट का आलय यह है कि सीबीएससी साल में दो बार शिक्षक पात्रता परीक्षा टीइटी लेती है जिसमें औसतन 8 प्रतिशत परीक्षाथी ही पास हो पाते हैं।

बीच में पढ़ाई छोड़ देनेवाले छात्रों की संख्या अभी भी काफी अधिक है। सरकारी आँकड़ों के अनुसार प्राथमिक कक्षाओं में कुल टिकाउपन 82 प्रतिशत है, जिसमें अनुसूचित जाति के छात्र 80.68 प्रतिशत, अनुसूचित जनजाति के छात्र 67.68 और मुस्लिम छात्र 78.06 प्रतिशत ही स्कूलों में लगातार बने रह पाते हैं।

शिक्षा अधिकार कानून में यह व्यवस्था की गयी थी कि सभी निजी स्कूलों में अनिवार्य रूप से कमजोर वर्ग के 25 प्रतिशत छात्रों का नामांकन जरूरी होगा। एक अध्ययन के मुताबिक 21 लाख निर्धारित स्थानों में से केवल 29 प्रतिशत पर ही गरीब बच्चों का नामांकन किया गया। दिल्ली में इसका बेहतर ढंग से निर्वाह हुआ जहाँ 92 प्रतिशत सीटें भरी गयीं। मध्यप्रदेश और राजस्थान में क्रमशः 88 और 69 प्रतिशत नामांकन हुआ जबकि आन्ध्रप्रदेश में 0.2 प्रतिशत, उत्तर प्रदेश में 3 प्रतिशत तमिलनाडू में 11 प्रतिशत, कर्नाटक में 19 प्रतिशत और गुजरात में 25 प्रतिशत सीटों पर ही गरीबों का नामांकन हुआ। नियमानुसार 1.6 करोड़ बच्चों का ही नामांकन निजी स्कूलों में हो पाया। सच तो यह है कि निजी स्कूलों का बने रहना ही इस कानून का मजाक है, जहाँ बच्चों से मोटी फीस वसूली जाती है। फिर मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का क्या अर्थ रह जाता है?

देश के कुल 14.48 लाख स्कूलों में से 1.04 लाख स्कूलों में एक ही शिक्षक हैं। 72,435 स्कूलों में एक ही कमरा है। शिक्षकों की औसत संख्या प्रति स्कूल प्राथमिक स्तर पर 1.3 और उच्च प्राथमिक स्तर पर 5.3 है।

शिक्षा अधिकार कानून बनने के पाँच साल बाद की यह तस्वीर बहुसंख्य गरीब जनता के प्रति सरकार की निष्ठुरता और उपेक्षा का प्रमाण है।

सच तो यह है कि अन्तरराष्ट्रीय समझौतों का हस्ताक्षरी होने और दुनिया में अपनी खराब छवि के चलते सरकार जन कल्याण के कुछ लुभावने कानून बना देती है। लेकिन जिस तरह तमाम अच्छे-अच्छे कानून और जनता के अधिकार कागजों तक ही सीमित रह जाते हैं वही हाल सर्व शिक्षा अभियान और शिक्षा अधिकार कानून का भी हुआ।

कानून लागू हुए पाँच साल बीत गये, लेकिन आज भी अपनी जगह-जमीन से उजड़े, अनौपचारिक क्षेत्र में खटते, झोपड़पट्टियों में रहनेवाले लोगों और खानाबदोश समुदायों के बच्चे स्कूल जाने की उम्र में कूड़ा बीनते, भीख माँगते या निम्न स्तर के काम करते दिखाई देते हैं। सरकार गरीबी और कंगाली के शिकार इन करोड़ों भारत वासियों को शायद देश का नागरिक भी नहीं मानती।

अमरीका ने खोज लिया नया शत्रु राष्ट्र

लीबिया के राष्ट्रपति गद्दाफी की हत्या और तख्तापलट के बाद से ही अमरीका नया शत्रु राष्ट्र खोज रहा था। नये शत्रु के रूप में उसने बोलिवियाई क्रान्ति के अगुवा देश वेनेजुएला को चिन्हित किया है। 9 मार्च को अमरीका ने इस लातिन अमरीकी देश के खिलाफ प्रतिबन्धों की घोषणा कर दी। बराक ओबामा ने वेनेजुएला को ''अमरीका की राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए असाधारण खतरा'' बताया है। अपने राष्ट्रपति के बयान के साथ सुर मिलाते हुए अमरीकी मीडिया भी तुरन्त सक्रिय हो गया है। प्रमुख अमरीकी अखबार 'न्यूयार्क टाइम्स' ने अपने लेख में बताया है कि शीर्ष स्तर के वेनेजुएलाई अधिकारी अमरीका के खिलाफ आतंकवादी गतिविधियों से लेकर नशीले पदार्थों की तस्करी तक में लिप्त हैं।

3 मार्च को वेनेजुएला के राष्ट्रपति मदुरौ की हत्या व सरकार का तख्तापलट करने की साजिशों का खुलासा होने के तुरन्त बाद अमरीका ने प्रतिबन्धों की घोषणा की है। इस षड़यंत्र में अमरीकी प्रशासन की संलिप्तता सामने आयी है जिसकी अमरीकी महाद्वीप के देशों और खुद अमरीकी जनता ने निन्दा की है।

वेनेजुएला सरकार ने एक वीडियो जारी किया है जिसमें पूर्व वायूसेना अध्यक्ष ओसवाल्डो हर्नेन्डो सांचेज और राजधानी काराकश के मेंयर एन्तोनियो लेडेज्मा समेत कई लोगों को वायूसेना को प्रशिक्षण विमान से टक्कर मारने, उसके बाद देश में 100 दिन के लिए आपातकालीन सरकार बनाने और फिर नये सिरे से चुनाव कराकर मौजूदा शासन को उखाड़ फेंकने के बारे में बातें करते हुए सुना जा सकता है। राष्ट्रपति मदुरौ का कहना है कि यह तख्तापलट अगले तीन महीनों के अन्दर किया जाना था। तख्तापलट के सूत्रधारों में से एक लेडेज्मा वेनेजुएला में विपक्ष के एक प्रमुख व्यक्ति हैं और अमरीका व देश के बड़े पूँजीपतियों के कृपापात्र माने जाते हैं।

तख्तापलट की साजिश में कुछ बड़े सैन्य अधिकारी भी लिप्त पाये गये हैं जो पहले ह्यूगो शावेज की सरकार के तख्तापलट में भी शामिल थे। फ्रांसीसी अखबार *ल'ह्यूमनीते* ने अपनी एक रिपोर्ट में बताया है कि अधिकांश षडयंत्रकारी काराकश में अमरीकी व ब्रिटिश राजदूतों के सीधे सम्पर्क में थे और उन्हें तख्तापलट के असफल होने की स्थिति में उन्हें अमरीकी व ब्रिटिश वीजा देने की गारंटी दी गयी थी। अब तक 15 षडयंत्रकारी गिरफ्तार किये जा चुके हैं।

अमरीका द्वारा वेनेजुएला पर प्रतिबन्ध थोपने का कनाडा के अलावा किसी देश ने समर्थन नहीं किया है। इसके विपरीत 17 मार्च को 11 लातिन अमरीकी और कैरेबियाई देशों के राष्ट्राध्यक्षों ने काराकश में एक आपात बैठककर, हर परिस्थिति में वेनेजुएला का साथ देने और अमरीकी कार्रवाई का मिलकर मुकाबला करने का प्रण लिया है। लातिन अमरीकी व कैरेबियाई देशों के संघ *क्लाक* (सीईएलएसी), *एल्बा* (एएलबीए) जैसे राष्ट्र समूहों ने वेनेजुएला पर प्रतिबन्ध थोपने, तख्तापलट के षडयंत्रकारियों की मदद करने, वेनेजुएला के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप करने के लिए अमरीका की भर्त्सना की है। इसे अन्तरराष्ट्रीय नियमों का घोर उल्लंघन व किसी लोकतांत्रिक सरकार को अस्थिर करनेवाली कार्रवाई बताया है। ऑर्गेनाइजेशन ऑफ अमरीकन स्टेट्स के महासचिव जोस मिग्येल ने भी अमरीकी सरकार की आलोचना की है और इसे वेनेजुएला व पूरे क्षेत्र में माहौल बिगाड़नेवाली कार्रवाई कहा है।

यह बेशर्मी की हद है कि पूरे महाद्वीप में इस हद तक बदनाम होने के बाद अमरीकी राष्ट्रपति 'उलटा चोर कोतवाल को डाँटे' वाले अन्दाज में वेनेजुएला को अपने राष्ट्र के लिए खतरा बता रहे हैं। अमरीकी सरकार ने इस साल मदुरौ के विरोधियों को दिये जा रहे धन में 50 लाख डॉलर की बढ़ोत्तरी की है। इसके साथ ही अमरीकी कांग्रेस ने लोकतंत्र के लिए दान के नाम पर विरोधियों को 12 लाख डॉलर अतिरिक्त दिये हैं। सहज ही अन्दाजा लगाया जा सकता है कि अमरीका चोर दरवाजे से भी वेनेजुएला में अस्थिरता फैलाने

और तख्तापलट के लिए भारी रकम भेजता होगा।

अमरीकी साम्राज्यवादी लूट की राह में रोड़ा बननेवाले देशों में आन्तरिक झगड़ों को बढ़ावा देकर तख्तापलट कराना और अपनी पिट्ठू सरकारें कायम करना या लोकतंत्र व मानवता की रक्षा का स्वांग रचकर स्वतंत्र राष्ट्रों पर नाटो सेना के जरिये हमला करवाना अमरीका का पुराना धन्धा है। उसने लातिन अमरीका में निकारागुआ की लोकप्रिय सांदेनिस्ता सरकार व चिली की अलेंदे सरकार के खिलाफ यही किया था। सन 2002 में ह्यूगो शावेज की सरकार का तख्तापलट करने और उनकी हत्या करने की असफल कोशिश के पीछे भी अमरीका का हाथ था। इराक व लीबिया के उदाहरण हमारे सामने हैं। विश्व इतिहास में अमरीका के ऐसे बहुतेरे कुकृत्य दर्ज हैं और इनकी संख्या हर रोज बढ़ती ही जा रही है।

राष्ट्रपति मदुरौ की हत्या की साजिश का भण्डा फूटने के बाद वेनेजुएला की जनता उनके पक्ष में सड़कों पर उतर आयी। 18 मार्च को तेल व बिजली उद्योगों के एक लाख से ज्यादा मजदूरों ने मदुरौ के पक्ष में एक साम्राज्यवाद विरोधी रैली का आयोजन किया। इस तरह के आयोजन वेनेजुएला के लगभग सभी शहरों में हो रहे हैं। पूरी परिस्थिति को देखते हुए वेनेजुएला की संसद ने शासन सम्बन्धी सभी अधिकार इस पूरे वर्ष के लिए राष्ट्रपति मदुरौ के हाथ में दे दिये हैं।

अमरीका द्वारा वेनेजुएला में तख्तापलट करने की साजिश और फिर प्रतिबन्ध थोप देने के पीछे वेनेजुएला की जनता के बीच बढ़ता अन्तरविरोध है। पिछले साल के अन्तिम महीनों से सरकार के खिलाफ होनेवाले विरोध प्रदर्शनों की संख्या में काफी बढ़ोत्तरी हुई है। दरअसल वेनेजुएला इस समय आर्थिक संकट से जूझ रहा है। वह दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा तेल उत्पादक देश है। तेल निर्यात से होनेवाली आय ही इसकी राष्ट्रीय आय का प्रमुख स्रोत है। ह्यूगो शावेज के समय शुरू हुई बोलेवारियाई क्रान्ति के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए वेनेजुएला की सरकार जनता का जीवन स्तर ऊपर उठाने और अमरीकी राष्ट्रों के बीच आपसी सहकार को मजबूत करनेवाली विराट योजनाएँ चला रही है। इन पर होनेवाले भारी-भरकम खर्च की पूर्ति मुख्यतः तेल निर्यात की आय से ही होती है। लेकिन पिछले एक साल से अन्तरराष्ट्रीय बाजारों में तेल की कीमतें आधे से भी कम हो चुकी हैं। इसके चलते वेनेजुएला का भुगतान सन्तुलन बुरी तरह गड़बड़ा गया है और उसके सामने भुगतान संकट की स्थिति है। इस संकट को अमरीकापरस्त मीडिया ने वेनेजुएला की आर्थिक नीतियों की असफलता और बढ़ते भ्रष्टाचार का परिणाम बताकर बढ़ा-चढ़ाकर प्रचारित किया। हालाँकि वेनेजुएला ने अभी तक अपनी जन-कल्याणकारी व आपसी सहकार की योजनाओं में कोई भारी कटौती नहीं की है। अभी भी वहाँ बेरोजगारी की दर 6 प्रतिशत से नीचे है और 95 प्रतिशत आबादी के लिए तीन वक्त के पौष्टिक भोजन की उपलब्धता सुनिश्चित है। लोगों के लिए सस्ते आवास उपलब्ध कराने का कार्य भी तेजी से चल रहा है। हाल ही में चीन ने भी उसके लिए 10 अरब डॉलर के ऋण की मंजूरी दी है।

विश्व में तेल की कीमतों में आ रही गिरावट का एक बड़ा कारण वेनेजुएला की अर्थव्यवस्था को तोड़ने की अमरीकी इच्छा भी है। अमरीका का पिट्ठू देश सउदी अरब विश्व का सबसे बड़ा तेल निर्यातक देश है। अमरीकी दबाव में वह लगातार तेल उत्पादन में बढ़ोत्तरी कर रहा है और कीमतें गिरा रहा है। वेनेजुएला से सउदी अरब की निजी दुश्मनी यह है कि वेनेजुएला सीरिया और इरान को मदद पहुँचा रहा है और अन्तरराष्ट्रीय मंचों पर इन दोनों देशों के पक्ष में मजबूती से खड़ा है। दूसरी ओर लातिन अमरीकी व अफ्रीकी देशों में चीन और रूस का प्रभाव बढ़ रहा है तथा अमरीका जल्द से जल्द इन दोनों देशों को नियंत्रित करना चाहता है। अगले साल अमरीका में राष्ट्रपति चुनाव होनेवाले हैं और बराक ओबामा को निश्चय ही अपने पक्ष में एक मजबूत मुद्दा चाहिए। तेल उत्पादन और कीमतों को नियंत्रित करने के लिए मदुरौ ने *ओपेक* देशों की यात्राकर समर्थन हासिल किया है लेकिन सउदी अरब उनकी योजनाओं को परवान चढ़ने की राह में रोड़ा बना हुआ है। लेकिन यह भी सच है कि सउदी अरब समेत तमाम *ओपेक* देशों की अर्थव्यवस्थाएँ तेल पर निर्भर हैं इसलिए कीमतें गिराने का खेल ज्यादा दिन नहीं चल सकता।

वेनेजुएला में निजी क्षेत्र के भारी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का काम शावेज के जमाने से ही चल रहा है। मदुरौ ने भी इसे जारी रखा है। इसके चलते पूँजीपति वर्ग जनपक्षधर सरकार के खिलाफ है। देश के दो तिहाई से ज्यादा अखबारों व टी.वी. चैनलों पर इसी वर्ग का कब्जा है। मध्यम वर्ग का एक काफी बड़ा हिस्सा पूँजीपति वर्ग की विचारधारा के प्रभाव में है और उसका समर्थन करता है। संचार साधनों पर कब्जे के चलते पूँजीपति वर्ग लगातार सरकार के खिलाफ दुष्प्रचार करता है। जरूरी वस्तुओं की कमी का प्रचार करके काला बाजारी और जमाखोरी को बढ़ावा दिया जा रहा है। पुराने समय में विशेषाधिकारों का मजा लूटनेवाले सैन्य व प्रशासनिक अधिकारियों के विशेषाधिकारों में शावेज और मदुरौ ने कटौती की है। यह समूह भी मौजूदा सरकार के खिलाफ होकर पूँजीपति वर्ग से जा मिला है। इस पूरे एकजुट विपक्ष को अमरीका व ब्रिटेन लगातार मदद कर रहे हैं। वेनेजुएला के आर्थिक संकट में फँसने से पूँजीपति वर्ग व अमरीका की जैसे मनचाही मुराद पूरी हो गयी हैं और ये साथ में मिलकर मौजूदा सरकार को अस्थिर करने के लिए बेहद सक्रिय हो गये हैं।

ह्यूगो शावेज के सत्ता सम्भालने से वेनेजुएला में जिस बोलीवियाई क्रान्ति की

शुरुआत हुई थी उसका प्रभाव आज अधिकांश लातिन अमरीकी व कैरेबियाई देशों में फैल चुका है। इन राष्ट्रों की निजीकरण विरोधी जनकल्याणकारी घरेलू नीति और साम्राज्यवाद विरोधी आपसी सहकार की विदेश नीति ने पूरे महाद्वीप में अमरीकी साम्राज्यवादी हितों को भारी नुकसान पहुँचाया है। बोलीवियाई क्रान्ति की विचारधारा का प्रभाव आज अमरीकी नाक के नीचे मैक्सिको व पनामा में भी फलीभूत हो रहा है। दूसरी और अमरीका 2008 से ही आर्थिक मंदी की गिरफ्त में है और एक गम्भीर आर्थिक संकट के मुहाने पर खड़ा है। वहाँ बेरोजगारी लगातार बढ़ रही है और जनता के जीवन स्तर में गिरावट आ रही है। हड़तालों और सरकार के खिलाफ प्रदर्शनों की संख्या पिछले छः महीनों में तेजी से बढ़ी है। इराक, अफगानिस्तान और लीबिया का विनाश करके भी अमरीका अपने संकट को हल नहीं कर पाया है और देश की जनता को मूर्ख बनाने और बाजारू राष्ट्रवाद की लहर चलाने के लिए उसे एक नये दुश्मन की जरूरत है।

लातिन अमरीकी देशों की बोलीवियाई क्रान्ति का आपसी सहकार का रास्ता अमरीकी साम्राज्यवादी रास्ते को भले ही बड़ी चुनौती न दे पाया हो लेकिन दुनिया का भविष्य इसी आपसी सहकार के रास्ते में है। एक उदाहरण से हम दोनों रास्तों के अन्तर को समझ सकते हैं-- अमरीका में आये विनाशकारी तूफान के समय वेनेजुएला ने अमरीकी जनता के लिए मुफ्त तेल व डॉक्टरों का इंतजाम किया था, दूसरी ओर अमरीका वेनेजुएला की जनता को संकट में धकेल रहा है व उसके लिए और ज्यादा गहरे संकट, कत्ल और तख्तापलट का का इन्तजाम कर रहा है।

रीको का निजीकरण धनकुबेरों की चाँदी

सार्वजनिक क्षेत्र के सारे उपक्रम जो देश की जनता के खून-पसीने को निचोड़कर तैयार किये गये हैं अब सरकारें उन्हें धनकुबेरों को बेच रही हैं। हर छोटा-बड़ा उपक्रम या तो बेचने के लिए तैयार है या इसके लिए तैयारी की जा रही है। इसी क्रम में राजस्थान इण्डस्ट्रीयल डवलपमेंट एण्ड इन्वेस्टमेंट कॉर्पोरेशन लिमिटेड (रीको) के निजीकरण की तैयारी जोरों पर है। 1 जनवरी 1980 को गठित रीको ने अब तक 327 औद्योगिक क्षेत्र विकसित किये हैं। रीको अपने गठन से लेकर आज तक कभी भी घाटे में नहीं रहा। रीको के पास 74228 एकड़ भूमि है जो किसानो से ''कानूनी'' तरीके से हासिल किया गया है। 2013-14 में रीको ने 13270 लाख का मुनाफा कमाया है। स्पष्ट है कि जिस भी धनकुबेर के हाथ ये कारू का खजाना आयेगा वह अकूत मुनाफा कमायेगा। फिलहाल प्रथम चरण में 10 प्रतिशत शेयर बेचने की तैयारी है।

किसी भी पार्टी की सरकार हो वह काम तो धनकुबेरों की जरूरतों को ध्यान में रखकर ही करती है। रीको बेहद सस्ते भाव में किसानों से जमीन खरीदती (छीनती) है। फिर इस जमीन को महँगी दरों पर उद्यमियों को बेचती है (यह किसानों को दी गयी कीमत की तुलना में महँगा है, उद्यमियों के लिए तो बेहद सस्ता होता है)। जमीन खरीदनेवाले उद्यमी भी जरूरी नहीं कि उद्यम ही लगायें, वे खरीदी गयी जमीन पर उद्योग न लगाकर कुछ समय बाद जमीन को और भी महँगी दरों पर बेच देते हैं। यहाँ स्पष्ट रूप से कानून का उल्लंघन किया जाता है। कुछ उद्योगपति ऐसा भी करते हैं कि अपनी जरूरत से ज्यादा जमीन आवंटित करवा लेते हैं और बच गयी जमीन को बाजार रेट पर बेच देते हैं। यदि रीको ऐसी जमीनों को किसानों को न भी लौटाये और उस भूमि को वापस लेकर दुबारा बेचे तो राज्य को करोड़ों का लाभ हो, लेकिन ऐसा नहीं किया जाता। आज से लगभग 20 साल पहले जो जमीनें 50 से 100 रुपये वर्गमीटर आंवटित की गयी थीं आज उनको दस हजार से एक लाख रुपये वर्गमीटर में बेचा जा रहा है जिसमें शॉपिंग मॉल और होटल खुल रहे हैं। जयपूर शहर से लगभग 20 किमी दूर कूकस में ऐसा ही एक इलाका रीको ने विकसित किया है जिसमें कई निजी कॉलेज, हॉस्टल और होटल आदि खुले हैं। एक स्थानीय किसान ने बताया कि सरकार ने बन्दूक के जोर पर उनसे जमीने छीनी हैं। यह पूछने पर कि इस इलाके के विकास से उनकों क्या फायदा हुआ? उसके चेहरे पर एक सर्द लहर दौड़ गयी। एक लम्बी खामोशी के बाद उसने बताया कि जिन लोगों के पास थोड़ा पैसा था उन्होंने अपने घर इस तरह बनाये हैं कि किरायेदार रखे जा सकें। यह पूछने पर कि उनके पास कौन लोग किराये पर रहने आते हैं? उसने बताया कि जो लोग इन कॉलेजों व होटलों में काम करते हैं, साथ ही यह भी जोड़ा कि बड़ी तेजी से इस इलाके में हॉस्टल बन रहे हैं इसलिए गाँव में अब कम ही लोग किराये पर रहने आते हैं।

नियम है कि अगर आवंटित भूमि पर तीन साल के भीतर उद्यम नहीं लगाये जाते तो आवंटन रद्द हो जायेगा। लेकिन इसका एक रास्ता ये निकाला गया कि केवल दिखावे के लिए उद्यम लगा लिया जाता है और फिर उसे घाटे में दिखाकर भू-उपयोग में परिवर्तन करा लिया जाता है। कुछ लोग अपने रसूख की बदौलत अवधि बढ़वा भी लेते हैं। 2007-08 तक तो ये छूट थी कि जमीन के उपयोग में न आने की स्थिति में उस पर प्लॉट काटे जा सकते थे। इस आधार पर कई घोटाले हुए

और 2008-9 में आवंटित जमीन को अधिकतम चार टुकड़ों में बेचने का नियम तय किया गया और यह भी कि एक टुकड़ा 500 वर्गमीटर से कम नहीं होगा। 2012-13 में यह भी नियम बनाया गया कि 10000 वर्गमीटर से ज्यादा भूमिवाले आवंटी ही जमीन बेच सकेंगे।

इस पूरे खेल में एक बात जो बिलकुल साफ है कि किसान का हित राजनीतिक पार्टियों, अफसरों और उद्यमियों की नजर में कोई मायने नहीं रखता। ऊपर जिन नियमों का जिक्र किया गया है ये सारे उद्यमियों के हितों को ध्यान में रखकर बनाये गये हैं न कि किसानों के। रीको ने जहाँ-जहाँ ''विकास'' की दुदुम्भी बजायी है, वहाँ-वहाँ सिर्फ और सिर्फ किसान तबाह हुए हैं। अब जब यह पूरा विभाग ही धन कुबेरों के हाथ में होगा तो स्थिति क्या होगी, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।

- सलमान अरशद

व्यापम घोटाले : हम्माम में सब नंगे

मध्य प्रदेश के राज्यपाल रामनरेश यादव के बेटे शैलेश की संदिग्ध परिस्थितियों में मौत हो गयी। स्पेशल टास्क फोर्स (एसटीएफ) ने शैलेश पर संविदा शिक्षक पद के 10 आवेदकों से पैसे लेकर पास कराने का आरोप लगाया था। पिछले महीने इस मामले में एसटीएफ ने शैलेश से पूछताछ के लिए राजभवन को नोटिस भेजा था। एसटीएफ से नोटिस जारी होने के बाद से ही राज्यपाल की हालत खराब होने लगी थी। लेकिन पूछताछ से पहले ही शैलेश की मौत कई बड़े सवालों को जन्म देती है। परिवारवालों ने मौत का कारण ब्रेन हैमरेज बताया। राज्यपाल परिवार ने मौत के कारण को छिपाने के लिए पोस्टमॉर्टम कराने से इनकार कर दिया। इस घटनाक्रम ने व्यापम घोटाले में शैलेश की संलिप्तता के सन्देह को गहरा किया।

व्यावसायिक परीक्षा मंडल (व्यापम) मध्य प्रदेश में व्यावसायिक परीक्षाओं का आयोजन कराता है। व्यापम भर्ती घोटाला इसी संस्था से जुड़ा हुआ है। जिसमें मेडिकल और इंजीनियरिंग जैसी प्रतियोगी प्रवेश परीक्षाओं से लेकर सरकारी नौकरियों के लिए होनेवाली प्रवेश परीक्षाओं में धांधली की पुष्टि हुई है। एसटीएफ की जाँच में संविदा आध्यापक, पुलिस आरक्षक, सब इंस्पेक्टर, खाद्य निरीक्षक, दुग्ध संघ भर्ती और वन रक्षक भर्ती परीक्षाओं में घोटाले का मामला सामने आया है। एसटीएफ की छानबीन से पता चला कि यह घोटाला इम्तहान से लेकर नतीजों के बीच बेरोक-टोक जारी था। सिफारिशवाले परीक्षार्थियों से कहा जाता था कि अगर कोई प्रश्न नहीं आता तो उसे खाली छोड़ दो जिसे परीक्षा के बाद भर दिया जाता था। इतना ही नहीं कई लड़कों के स्थान पर दूसरे मेधावी छात्र या अध्यापक से ही परीक्षा दिला दी जाती थी। इस फर्जीवाड़े में सबका हिस्सा तय होता था। कालेजों के प्रधानाचार्य, अध्यापक और ऊपर के आला अधिकारी भी इस घोटाले में सम्मलित थे।

व्यापम घोटाले को लेकर मध्यप्रदेश में कई खुलासे सामने आये। इस घोटाले में न केवल छोटी मछलियाँ बल्कि बड़ी मछलियों से लेकर मगरमच्छ तक शामिल हैं। एसटीएफ ने अपनी चार्जशीट में मध्यप्रदेश के राज्यपाल रामनरेश यादव और उनके बेटे शैलेश यादव का उल्लेख किया है। कई साल पहले रामनरेश यादव उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री का पद हथियाने के लिए दलबदल और तोड़फोड़ की राजनीति में लिप्त थे। रामनरेश को 2011 में केन्द्र की यूपीए सरकार ने मध्यप्रदेश का राज्यपाल नियुक्त किया था। जहाँ तक घोटाले की व्यापकता का सवाल है, इसमें मुख्यमंत्री शिवराज सिंह समेत तत्कालीन परिवहन मंत्री के निजी सचिव, जनअभियान परिषद् के अध्यक्ष, बीजेपी के दो सांसद, दो मंत्री और 25-30 आईएएस और 20 आईपीएस अफसरों के नाम भी शामिल हैं। स्वघोषित राष्ट्रभक्त और हिन्दुत्ववादी संगठन आरएसएस पर भी इस घोटाले के काले धब्बे के गहरे निशान हैं। आरएसएस के पूर्व संघ संचालक के एस सुदर्शन के सेवक मिहिर कुमार और मौजूदा संघ संचालक मोहन भागवत के पर्सनल सेवक और उनके कई रिश्तेदारों ने भी अपने-अपने कैंडिडेट को परीक्षा में पास करवाने की सिफारिश की थी।आईपीएस अधिकारी आर के शिवहरे को भी एसटीएफ द्वारा गिरफ्तार किया गया। उन पर आरोप है कि उन्होंने अपनी बेटी नेहा को प्री-पीजी मेडिकल में फर्जी तरीके से भर्ती कराया था।

पिछले साल व्यापम ने सरकारी नौकरियों में भर्ती के लिए विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाएँ आयोजित करायी थी। जिसमें 1 लाख 47 हजार अभ्यर्थी सम्मिलित हुए थे। जाँच के बाद उनमें से 1000 अभ्यर्थी फर्जी पाये गये। विधानसभा में मुख्यमंत्री शिवराज सिंह ने सरकारी नौकरियों में हुए 1000 भर्ती में फर्जीवाड़े को खुद स्वीकार किया था। व्यापम घोटाले में राज्यपाल, मुख्यमंत्री, आईएएस, आईपीएस के साथ ही साथ इनके परिवारों और रिश्तेदारों ने अपनी पहुँच का बखूबी फायदा उठाया था। अथाह मेहनत और लगन से पढ़नेवाले विद्यार्थी और सरकारी नौकरियों में जान की बाजी लगानेवाले नौजवानों को काबिलियत के बावजूद भी दर-दर की ठोकर खाने को मजबूर होना पड़ा, क्योंकि सभी प्रवेश परीक्षाओं के

रिजल्ट पहले से ही तय थे। सरकारी नौकरियों के आवेदन में से चयनित लोगों की सूची पहले से तैयार कर दी गयी। इसका मतलब नौकरी का आधार योग्यता नहीं रिश्वत की मोटी रकम बन गयी। व्यापम का कार्यालय इसका मुख्य केन्द्र था। जहाँ रिश्वत लेकर अयोग्य लोगों को पिछले दरवाजे से प्रतियोगी परीक्षाओं में प्रवेश और सरकारी नौकरियाँ दी गयी थी।

व्यापम घोटाले की चार्जशीट एक एक्सेल शीट पर आधारित है। इस मामले की जाँच में एसटीएफ ने 101 लोगों पर आरोप तय किये थे। जिनमें से 14 बड़े नाम तथा 87 अभ्यर्थी सम्मिलित किये गये थे। कांग्रेस के दावों के अनुसार ऑरिजिनल एक्सेल शीट में कुल 131 नाम थे। किन्तु एक्सेल शीट में हेर-फेर करके कई जगहों पर मुख्यमंत्री का नाम बदलकर मंत्री, राजभवन, उमा भारती और एमएस लिख दिया गया। यही नहीं एक्सेल शीट में और भी बहुत बदलाव किये गये। ओरिजिनल एक्सेल शीट में 48 जगहों पर सीएम लिखा था। वहीं नयी शीट में उनके नाम का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। डुप्लिकेट शीट में 21 स्थानों पर सीएम के नाम की जगह मिनिस्टर लिख दिया गया है। इससे साफ पता चलता है की कहीं न कहीं एसटीएफ ने मुख्यमंत्री के दबाव में आकर एक्सेल शीटों में बदलाव किये थे। एसटीएफ, मुख्यमंत्री के अधीन होती है। एसटीएफ के मुखिया की सीआर मुख्यमंत्री ही लिखते हैं। इससे तो जगजाहिर है कि एसटीएफ पर पूरी तरह से नियंत्रण प्रदेश के मुख्यमंत्री के हाथ में है। ऐसे में मुख्यमंत्री के खिलाफ निष्पक्ष जाँच की आशा भी कैसे की जा सकती है। जाहिर है कि एसटीएफ अपने निर्णय लेने में स्वतंत्र नहीं है। अभी तक एसटीएफ ने जो भी आरोप तय किये है। वह पूरी तरह से मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय की कड़ी निगरानी में सम्भव हो पाया है। वरना प्रदेश सरकार तो खुद को और घोटाले में लिप्त अधिकारियों को बचाने में ही लगी थी। अदालत की कड़ी निगरानी का ही सबब है कि एसटीएफ को मुख्यमंत्री के चहेते और आरएसएस के करीबी पूर्व तकनीकी शिक्षामंत्री लक्ष्मीकांत शर्मा की भर्ती के मामले में गिरफ्तारी करनी पड़ी। खनन मंत्री रहते हुए भी लक्ष्मीकांत का नाम खनन घोटाले में सामने आया था। लेकिन मुख्यमंत्री और आरएसएस के साथ अच्छे सम्बन्ध के चलते खनन घोटाले से वे बहुत ही बेशर्मी से बचा लिये गये थे। इस बार जाँच की लपटे जब मुख्यमंत्री तक पहुँच गयीं तब जाकर उनकी गिरफ्तारी सम्भव हो पायी।

मुख्यमंत्री ने खुद को बचाने के के लिए व्यापम के पूर्व सिस्टम एनालिस्ट और इसके मुख्य आरोपी नितिन मोहिंद्रा की हार्डडिस्क और एक्सेल शीट में फेरबदल करायी थी। इस मामले में एसटीएफ की लापरवाहियों को देखा जाये तो इससे साफ पता चलता है कि एसटीएफ भी कहीं न कहीं सरकार के खास लोगों को बचाने में लगी हुई है। मामले में ढिलाई दिखाते हुए एसटीएफ ने आरोपी मोहिंद्रा का लैपटाप और कम्प्यूटर जब्त नहीं किया केवल हार्डडिस्क ही जब्त की गयी थी। हार्डडिस्क जब्त करने के 11 दिन बाद हार्डडिस्क को रिकवर किया गया, जो लापरवाही को साफतौर पर दिखाता है। हार्डडिस्क की जाँच के लिए केन्द्र से मान्यता प्राप्त प्रयोगशाला हैदराबाद या फिर चंडीगढ़ न भेजकर उसे गुजरात भेजा गया। देश के सबसे बडे भर्ती घोटाले का खुलासा होने के बावजूद व्यापम के सर्वर को ठप नहीं किया किया गया। व्यापम के अधिकारियों ने स्वीकार किया कि इस मामले में मोहिंद्रा से जब्त हार्डडिस्क नकली थी। इसे आँकड़ों में फेरबदल करके दुबारा से तैयार किया गया था।

एसटीएफ भी आरोपियों को पूरी तरह से बचाने में लिप्त है। एक तरफ जहाँ एक्सेल शीट के आधार पर कुछ अधिकारी गिरफ्तार कर लिये गये। वहीं दूसरी ओर उन्हीं सबूतों के आधार पर कुछ चयनित लोगों को हवा में जहर घोलने के लिए छोड़ दिया गया। एसटीएफ ने अभी तक इससे जुड़े आरोपियों के कॉल डिटेल्स तक बारीकी से नहीं जाँचें। कांग्रेस ने फिर से फोन नम्बर, आईएमईआई नम्बर की लिस्ट सबूत के तौर पर एसटीएफ को सौंपी थी। किन्तु एसटीएफ ने इसे भी अन्य सबूतों की तरह से दबा दिया। एसटीएफ के जाँच प्रकरण को देखकर लगता है कि मामला सुलझने की बजाय और उलझता जा रहा है। मामले के पेचीदेपन को देखते हुए, सीबीआई जाँच की माँग कई बार उठायी गयी। किन्तु मुख्यमंत्री ने बड़ी ही लच्छेदार भाषा में यह कहकर इस मुद्दे को टाल दिया कि एसटीएफ भी कोर्ट के आदेश पर ही इस मामले की जाँच कर रही है। इस मामले में सीबीआई जाँच की जरूरत नहीं है। अगर सीबीआई जाँच कर भी दे तो किसे सजा मिलनेवाली है? आज तक कितने नेताओं को भ्रष्टाचार के मामले में सजा हुई है?

अब भाजपा की सरकारें भी भ्रष्टाचार के मामले में कांग्रेस को मात दे रही हैं। दरअसल भ्रष्टाचार को किसी चुनावी पार्टी के अपराध के रूप में समझना ठीक नहीं है क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था ऐसी है कि इस *काजल की कोठरी में कितनो ही सयानो जाये, एक बूँद कालिख की लागिहै पे जैहे लागि*। पूँजीवादी व्यवस्था में भ्रष्टाचार ही शिष्टाचार होता है। अलग-अलग पार्टियाँ तो बस इस व्यवस्था के मुखौटे हैं। पूँजीवादी व्यवस्था किसानों-मजदूरों के शोषण पर फूलती-फलती है। इसकी जड़ में भ्रष्टाचार का रोग लग चुका है। वहीं से इसे खाद और पानी मिलता है। इस व्यवस्था के रहते भ्रष्टाचार पर काबू पाना असम्भव है। भ्रष्टाचार को मिटाने के लिए इसकी जड़ में मट्ठा डालना होगा।

किसानों पर मौसम परिवर्तन की मार

मार्च-अप्रैल में भारी बरसात और ओला वृष्टि से न केवल यूपी बल्कि पंजाब और देश के उत्तर पश्चिम और मध्य इलाके में गेहूँ, सरसों, आलू, मटर आदि फसलों को भारी नुकसान हुआ। फसलों की बरबादी को देखकर किसानों की साँसे थम गयीं। खेत में जाते ही किसानों की आँखों के आगे बर्बादी का ऐसा मंजर सामने आया कि इस सदमें से कई किसान बेहाल और तनाव ग्रस्त हो गये। तबाह फसलों के चलते बैकों का कर्ज न चुका पाने की आशंका से कई किसानों ने जहर खाकर या फाँसी लगाकर आत्महत्या कर ली। कई किसानों की जिन्दगी दिल के दौरे ने निगल ली। यह सिलसिला अभी भी जारी है। बारिश अगर समय से हो, तो खेती में जान फूँक दे और असमय हो, तो किसानों की जान ले ले। आसमान में उमड़ते-घुमड़ते बादलों का इन्तजार करनेवाले किसान मेघों की छाया तक से डरने लगे हैं।

सरकारी खबरों के अनुसार देश-भर में कुल 106.73 लाख हेक्टेयर भू-क्षेत्र में खेती का नुकसान हुआ है। आम की फसल को 30 से 80 प्रतिशत तक का नुकसान हुआ है। एक अनुमान के मुताबिक मौसम की मार से पूरे देश में 22 हजार करोड़ रुपये की क्षति हुई है। इतना अनुमान तब है जब पूरे नुकसान के बारे में प्रभावित राज्यों से अभी पूरा ब्यौरा नहीं मिला है। गाँव के बुजुर्ग किसानों ने बताया कि उनकी याद में कभी ऐसा नहीं हुआ कि जब बेमौसम बरसात और ओला वृष्टि ने रबी की फसलों को तबाह कर दिया हो।

जब देश में किसान मौसम की मार से आत्महत्याएँ कर रहे हैं उसी दौरान सरकारी रहनुमा उनके जख्मों पर नमक छिड़कनेवाले बयान दे रहे हैं। जब किसानों को सरकार की मदद की जरूरत है तब केन्द्र सरकार में मंत्री नितिन गड़करी ने सलाह दी है कि किसान भगवान या सरकार के भरोसे रहने के बजाय अपने भरोसे रहना सीखें। किसानों की खुदकुशी के मुद्दे पर एनडीटीवी इण्डिया के एक सवाल के जवाब में केन्द्रीय कृषि मंत्री ने एक अलग ही अन्दाज में मुस्कराते हुए कहा कि आपका यह कहना सही है कि खुदकुशी मेरी ही सरकार के कार्यकाल में हुई है. लेकिन यह है कलयुग। सतयुग और त्रेता में जो पाप करता था वह उसका प्रायश्चित जरूर करता था। लेकिन कलयुग में पाप कोई और करता है, प्रायश्चित किसी और को करना पड़ता है। कृषि मंत्री केन्द्र की पिछली कांग्रेस सरकार पर निशाना साधते हुए कहना चाहते थे कि आज के हालात पिछली सरकार की देन है। लेकिन किसानों को तत्काल राहत देने के बजाय वे थोथी बयानबाजी में व्यस्त हैं। उत्तर प्रदेश में शामली के जिलाधिकारी बड़ी बेबसी से कहते हैं कि किसानों की मौत सदमें से नहीं बल्कि बीमारियों से हो रही है। महाराष्ट्र के अकोला क्षेत्र में बीजेपी सांसद ने कहा कि किसान सजग नहीं है। उन्हें मरने दो जिन्हें किसानी करनी है वे करेंगे ही। हरियाणा के कृषि मंत्री ने आत्महत्या करनेवाले किसानों को कायर कहा। दम तोड़ते किसानों से बेरूखी दिखाते हुए सरकार के मंत्रियों और नौकरशाहों की बयानबाजियाँ जारी हैं।

सवाल यह उठता है कि जिन आर्थिक नीतियों के कारण देश-भर में पिछले 25 सालों में 7 लाख से अधिक किसान आत्महत्या कर चुके हैं। उन नीतियों को रोका क्यों नहीं जा रहा है। 90 प्रतिशत किसानों पर कर्ज है। अकेले उत्तर प्रदेश में मेरठ और सहारनपुर मण्डल के किसानों पर 178 अरब का कर्ज है। किसानों ने साहुकारों से 24 से 36 प्रतिशत ब्याज पर कर्ज लिया है। पिछले 10 सालों में पूँजीपतियों को 42 लाख करोड़ रुपये की छूट दी गयी। वर्ष 2015 के बजट में भी 5.90 लाख करोड़ रुपये करों में छूट दी गयी है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि सरकार चाहे कांग्रेस की हो या भाजपा की, नीतियाँ एक ही चलती हैं। इनके एजेण्डे में खेती और किसान नहीं है। सभी सरकारों ने किसानों को इस हद तक मजबूर कर दिया है कि किसान अपनी खेती-बाड़ी छोड़कर दिहाडी मजदूर बन जाना चाहते हैं। नयी आर्थिक नीतियों से तबाह किसानों पर पर्यावरण संकट के कहर से दोहरी मार पड़ी है। खेती-किसानी को बबार्दी के कगार पर धकेल दिया गया। इस तबाही की भरपाई कैसे और कब तक हो सकेगी?

खेती पर जलवायु परिवर्तन का दुष्प्रभाव साफ तौर पर दिखने लगा है। अन्तर सरकारी पैनल की रिर्पोट में वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर इसका खुलासा करते हुए कहा गया है कि अब खतरा बहुत बढ़ गया है। पर्यावरण को बचाने के लिए ठोस कदम उठाये जाने की बेहद जरूरत है। क्यूबा के क्रान्तिकारी फिदेल कास्त्रो चेतावनी देते है कि अगर पर्यावरण को आज नहीं सुधारा गया तो कल बहुत देर हो जायेगी।

लेकिन केन्द्र और राज्य सरकारों के कानों पर जूँ तक नहीं रेंग रही है। वे बेशर्मी से कह रही हैं कि फसलों को ज्यादा नुकसान नहीं हुआ है। नुकसान का आकलन करने के लिए सरकार की ओर से जो कारिन्दे सर्वे करने गये उनका कृषि से कोई रिश्ता नहीं था। साफ है कि हवाई और कागजी सर्वे से किसानों की मौत का आकलन किया जा रहा है। इन्हीं तथ्यहीन सर्वे रिर्पोट के आधार पर किसानों का मुआवजा तय किया जायेगा। इस तरह जो मुआवजा मिलेगा वह भी किसानों के जख्मों को नहीं भर सकता। आज किसानों की इस दुर्दुशा पर कौन न रो देगा। माखनलाल चतुर्वेदी ने लिखा है कि "किसान तेरा चौड़ा छाता रे,

तु जन-जन का भ्राता रे"। आज हमारे भ्राता यानी किसान की हालत पर सरकारी नीतियाँ कहर बनकर टूट रही हैं। इन नीतियों में चीख-चीखकर खुशहाली समृद्धि और विकास के खोखले दावे किये गये थे। लेकिन किसका विकास?

1991 में उदारीकरण और वैश्वीकरण की नयी आर्थिक नीतियों ने विदेशी लूटेरों के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था के कपाट खोल दिये गये। निर्यातोन्मुखी विकास को बढ़ावा देना, विदेशी मालों की खपत बढ़ाने के लिए मध्यवर्ग में विलासिता और उपभोक्तावाद का प्रचार-प्रसार करना, सरकारी उपक्रमों का निजीकरण और श्रम और पर्यावरण कानूनों में ढील देना इन्हीं नीतियों का परिणाम था। मुट्ठी-भर देशी लुटेरों ने विदेशी के साथ मिलकर प्राकृतिक संसाधनों का बेतहाशा दोहन किया। पेड़ों की अन्धाधुन्ध कटाई और फैक्टिरियों के धुएँ और कणों से पर्यावरण तबाह होता गया। इससे न केवल प्रदूषण बढ़ा बल्कि प्रदूषण के कारण जलवायु में बदलाव आये और इसने धरती का तापमान भी बढ़ा दिया जो अभी तक जारी है। उघोगों और आधारभूत ढाँचे के विस्तार के लिए लगातार जल, जंगल, जमीन, पहाड़ और नदियों को तबाह किया गया। परिणाम स्वरूप पर्यावरण संकट के कारण जलवायु परिवर्तन इस हद तक हुआ कि धरती के अलग अलग हिस्सों में तेज बारिश, बाढ़ और तबाही का मंजर नजर आ रहा है। व्यावस्थापोषक अखबार, टीवी चैनल और बुद्धिजीवियों के द्वारा इस तबाही को प्राकृतिक आपदा, दैवीय आपदा, कुदरत की मार आदि शब्द से परिभाषित लोगों को भ्रमित किया जाना कोई नयी बात नहीं है। आज कोई अखबार ऐसा नहीं है कि जो लोगों के सामने सच्ची तस्वीर पेश करे। असल में इस पूरी बर्बादी और तबाही की जड़ में जलवायु परिवर्तन है। यह प्रकृति विरोधी, जनविरोधी आर्थिक नीतियों का ही नतीजा है। पर्यावरण संकट के साथ साथ कृषि संकट गहराता जा रहा है। सरकार के खोखले वादे से कुछ होनेवाला नहीं है। किसानों को दुर्दशा से मुक्ति के लिए कमर कसकर आगे आना होगा। उन्हें देशी-विदेशी गठजोड़ से बनी लूट-खसोट की इन नीतियों को समझना और इन पर प्रहार करना होगा। अगर किसान संगठित नहीं होते तो पर्यावरण के मामले में सरकार की खराब नीतियाँ इसी तरह चलती रहेगी।

देश को महाशक्ति बनानेवाले क्या बना के छोड़ेंगे

''भारत महाशक्ति बनेगा,'' ''भारत विश्व गुरु बनेगा'' पता नहीं और क्या-क्या ऊँचाइयाँ नापेगा-- ऐसे जुमले अक्सर उछाले जाते हैं और लोग उन पर ताली पीटते हैं। लेकिन हमारे देश की जमीनी हकीकत की काफी चिन्ताजनक तस्वीर सामने आ रही है।

हाल ही में दुनिया के जाने-माने शोध संस्थान ''सोशल प्रोग्रेस इम्परेटिव'' की रिपोर्ट में 133 देशों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का जायजा लिया गया, जिसमें भारत की स्थिति निम्न है--

1. स्वास्थ्य और खुशहाली में 120वाँ स्थान है।
2. सहिष्णुता और समावेश में 128वाँ स्थान है।
3. प्रति व्यक्ति आय में 93वाँ स्थान है।
4. बुनियादी मानवीय जरूरतों में 101वाँ स्थान है।
5. शुद्ध पेय जल और स्वच्छता में 98वाँ स्थान है।
6. आवास और व्यक्तिगत सुरक्षा में 93वाँ स्थान है।

जिन 52 मापदण्डों पर इस अध्ययन में 133 देशों का स्थान तय किया गया है उनके आधार पर भारत की स्थिति नेपाल और बांग्लादेश से भी बदतर है।

हमारे देश में सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धिदर को ही विकास का पैमाना बना दिया गया है। उसमें भी कृषि और उद्योग की जगह वित्त, बीमा, शेयर बाजार, स्थावर सम्पत्ति और शहरीकरण को ही बढ़ावा दिया जा रहा है। असली विकास- देशवासियों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाना किसी भी सरकार की कार्यसूची में नहीं है। यही कारण है कि हमारे देश में आर्थिक वृद्धि दर में साथ-साथ एक तरफ अरबपतियों-करोड़पतियों की संख्या बढ़ रही है, तो दूसरी ओर कंगाली, बदहाली, भुखमरी और आत्महत्या के आँकड़े बढ़ रहे हैं। एक तरफ मोटापा महामारी की तरह बढ़ रहा है तो दूसरी ओर देश के आधे बच्चे कुपोषण के शिकार हैं।

पिछले पच्चीस वर्षों में साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के साथ देश-दुनिया में जिस नवउदारवादी पूँजीवादी नीतियों का वर्चश्व कायम हुआ, उसने यह भ्रम फैलाया कि सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि से खुद ब खुद खुशहाली आयेगी। लेकिन इस शोध से स्पष्ट है कि वृद्धि दर समाज में खुशहाली लाने का पैमाना नहीं है बल्कि यह मुट्ठी-भर अमीरों को और अधिक अमीर बनाती है। हमारे देश में विकास का यही मॉडल अपनाया जा रहा है जिसके तहत सरकारें 80 प्रतिशत लोगों की कंगाली-बदहाली की कीमत पर मुट्ठी-भर लोगों की तिजोरी भर रही है। नवउदारवादी लूटतंत्र के रहते इससे अलग कुछ हो भी नहीं सकता।

गुजरात सरकार का आतंकवाद नियंत्रण बिल – किसके लिए?

गुजरात सरकार ने 3 मार्च को एक क्रूर कानून-- गुजरात कंट्रोल ऑफ टेरेरिज्म एण्ड ऑर्गेनाइज्ड क्राइम बिल (जीसीटीओसी) पारितकर मंजूरी के लिए राष्ट्रपति के पास भेज दिया। यह बिल 2003, 2008 तथा 2009 में भी जीयूजीसीओसी के नाम से तत्कालीन नरेन्द्र मोदी सरकार ने तीन बार राष्ट्रपति के पास भेजा, लेकिन तीनों बार ही राष्ट्रपति ने इसे मंजूरी नहीं दी।

इस विवादित बिल को चौथी बार राष्ट्रपति की मंजूरी के लिए भेजने के पीछे गुजरात सरकार का तर्क है कि सीमापार से पाकिस्तान प्रायोजित आतंकवाद को रोकने और राज्य के संगठित आपराधिक समूहों पर नियंत्रण के लिए इस कठोर कानून की बेहद जरूरत है।

दूसरी ओर लोकतंत्र समर्थकों, कानूनविदों, मानवाधिकार संगठनों व अन्य जनपक्षधर संगठनों व अन्य जनपक्षधर संगठनों का कहना है कि अपनी संविधान विरोधी धाराओं के कारण यह बिल लोकतंत्र विरोधी और आम जनता की स्वतंत्रता के लिए खतरा है। पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज के महासचिव गौतम ठाकुर का कहना है कि- ''यह बिल विरोध के मुँह पर ताला जड़ने के लिए उन पर थोपा गया आपातकाल है। इसके कठोर प्रावधानों से सरकार सामाजिक कार्यकर्ताओं, एनजीओ और सिविल सोसायटी के लोगों के बीच भय और आतंक पैदा करना चाहती है। यदि यह बिल गैर जमानती है और इसमें तहकीकात का समय लम्बा है, तो व्यवहार में इसका अर्थ यही है कि किसी व्यक्ति को मात्र फोन कॉल के आधार पर 180 दिन तक हिरासत में रखा जा सकता है।''

इस बिल की कम से कम 6 धाराएँ तो ऐसी हैं कि जिन्हें कोई थोड़ा भी आजादी पसन्द व्यक्ति कभी स्वीकार नहीं कर सकता।

पहली-- बिल की धारा 16 के अनुसार किसी अपराधी, सह-अपराधी या षड्यंत्र में शामिल व्यक्ति का सुपरिटेन्डेन्ट स्तर से बड़े पुलिस अधिकारी के सामने दिया गया इकबालिया बयान अदालत में सबूत के रूप में मान्य होगा। गुलाम भारत में ब्रिटिश न्याय व्यवस्था भी यह स्वीकार करती थी कि पुलिस डण्डे के जोर पर मुजरिम से कुछ भी लिखवा सकती है। इसीलिए 1872 में बने साक्ष्य अधिनियम में पुलिस हिरासत में दिये गये बयान को सबूत नहीं माना गया है। इसके विपरित गुजरात सरकार का कहना है कि बड़े पुलिस अधिकारी कानून का राज कायम करने की भावना रखते हैं। इस भावना का इजहार तो पिछले 10 वर्षों से गुजरात में अपने चरम पर रहा है।

सच्चाई यह है कि खुद गुजरात के ही कई आईपीएस अधिकारी फर्जी एनकाउन्टर और हिरासत में प्रताड़ना जैसे गम्भीर मामलों में फँसे हैं। इसरत जहाँ काण्ड और डीआईजी बंजारा के कुकृत्यों को कौन नहीं जानता। अक्षरधाम बम विस्फोट काण्ड में दोषी ठहराये गये अदम अजमेरी को पोटा अदालत ने मौत की सजा सुनायी थी। गुजरात उच्च न्यायालय ने भी इस सजा को बरकरार रखा। अजमेरी की मौत की सजा का प्रमुख आधार उसका पुलिस हिरासत में डीसीपी संजय गढवी के सामने दिया गया इकबालिया बयान था। बाद में सर्वोच्च न्यायालय ने अदम अजमेरी को न केवल बरी किया, बल्कि इकबालिया बयान के आधार पर मौत की सजा देनेवाले फैसले को ''दुराग्रही, अन्यायपूर्ण, प्रत्यक्ष रूप से बेजा, नागरिक के मूलभूत अधिकारों और आम मानवाधिकारों का पूर्णतया उल्लंघन'' बताया था। यह धारा सीधे तौर पर पुलिस टॉर्चर को कानूनी जामा पहनाती है।

दूसरी-- धारा 16-ए और भी ज्यादा खतरनाक हो जाती है जब इसे धारा 20-बी का सहारा मिल जाता है। धारा 20-बी कहती है कि मुजरिम की पुलिस हिरासत की अवधि को 15 दिन से बढ़ाकर 30 दिन किया जाये। इसका सीधा अर्थ है पुलिस के लिए और ज्यादा टॉर्चर और झूठे सबूत गढ़ने की और ज्यादा छूट।

तीसरी-- भारतीय दण्ड-प्रक्रिया संहिता के अनुसार पुलिस किसी भी मामले की जाँच 90 दिन के अन्दर पूरी कर अदालत में आरोप पत्र दाखिल करने के लिए बाध्य है। लेकिन यह बिल इस अवधि को बढ़ाकर 180 दिन करने की छूट देता है।

चौथी-- इस बिल की धारा 20.4 के अनुसार इस बिल के तहत दोषी ठहराये गये व्यक्ति को, यदि वह हिरासत में है, तो जमानत या निजी मुचलके पर रिहा नहीं किया जायेगा। यदि इस धारा को उपरोक्त धारा के साथ जोड़कर देखें तो यह स्वतः स्पष्ट है कि किसी भी व्यक्ति को कम से कम 6 माह (180 दिन) के लिए जेल में ठूँसा जा सकता है, भले ही वह पुलिस जाँच में निर्दोष पाया जाये।

पाँचवी-- इस बिल में प्रावधान है कि तार, विद्युत या मौखिक बातचीत को सबूत माना जायेगा और जाँच एजेन्सी को इन्हें रिकॉर्ड करने की छूट होगी। यह किसी भी व्यक्ति के निजता के अधिकार का हनन है। सामान्य हँसी-मजाक में कही गयी बातों को भी रिकॉर्ड करके किसी को षड्यंत्रकारी घोषित किया जा सकता है और कम से कम 6 माह के लिए जेल में ठूँसा जा सकता है। यह धारा समाज में सरकार का खौफ कायम करने और विरोधियों की जबानों पर ताला जड़ने के काम आयेगी।

छठी-- बिल की धारा 25 किसी भी पुलिस अधिकारी को मनमानी की खुली छूट देती है। इस धारा के अनुसार-- ''राज्य सरकार या उसके अधिकारी के प्राधिकार के खिलाफ किसी ऐसे कृत्य के लिए जो

उसने इस कानून के अनुपालन के लिए किया हो, या करने का इरादा हो, कोई मुकदमा, अभियोग या कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती।'' इस धारा की रौशनी में उपरोक्त धाराओं को देखने पर स्पष्ट है कि यह बिल नाजी हिटलर की न्याय प्रणाली को भी काफी पीछे छोड़ चुका है।

गौरतलब है कि जिस बिल को कानून का रूप दिलवाने के लिए गुजरात सरकार इतना जोर लगा रही है, वह उसके अधिकार क्षेत्र से ही बाहर है। वरिष्ठ अधिवक्ता और आतंक सम्बन्धी मामलों के विशेषज्ञ युग मोहित चौधरी का कहना है कि– ''जहीर अहमद बनाम महाराष्ट्र राज्य मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने व्यवस्था दी है कि भारत की सुरक्षा से सम्बन्धित मामलों में केवल केन्द्र सरकार ही अभियोजन चला सकती है। आतंकवाद का विषय केन्द्र के अधिकार क्षेत्र में है, अतः कोई भी राज्य सरकार इससे सम्बन्धित कानून नहीं बना सकती।'

भारत में आतंकवाद निरोधक कानूनों का इतिहास बेहद दागदार है। पंजाब के आतंकवाद की रोकथाम के लिए बनाये गये कानून 'टीएडीए' (टाडा) ने ऐसा कहर ढाया कि पंजाब में लड़कियों की शादियों के लिए लड़कों की कमी पड़ गयी। इस कानून के खिलाफ मानवाधिकारों और संवैधानिक अधिकारों के हनन का इस कदर अम्बार लग गया कि 1995 में इस कानून को वापस ले लिया गया। 9/11 की घटना के बाद सन 2001 में अटलबिहारी वाजपेयी सरकार ने आतंकवाद के खिलाफ टाडा की तर्ज पर नया कानून 'पोटा' (पीओटीए) बनाया। 'पोटा' के दुरुपयोग ने कुछ ही दिनों में 'टाडा' के सारे रिकॉर्ड तोड़ दिये। सरकारों द्वारा अपने राजनीतिक विरोधियों, किसान-मजदूर आन्दोलनों के नेताओं, सरकारी परियोजनाओं के विरोधियों, आदिवासियों, दलितों, अल्पसंख्यकों के खिलाफ इस हद तक दुरुपयोग हुआ कि वाइको बनाम तमिलनाडु राज्य मामले में अदालत को कहना पड़ा कि आतंकवाद निरोधी कानून पुलिस को इसके लिए मुक्त कर देते हैं कि वह किसी को भी, बिना किसी जवाबदेही के उठाकर बन्द कर दे और मनचाहे समय तक हिरासत में रख सके। इन कानूनों के दुरुपयोग का आकलन करने के लिए केवल एक आँकड़ा ही पर्याप्त है-- इन कानूनों के तहत गिरफ्तार किये गये लोगों में से 90 प्रतिशत लोग बेगुनाह पाये गये, जबकि एक प्रतिशत से भी कम लोगों को सजा हो पायी।

संगठित अपराध की रोकथाम के नाम पर 1999 में महाराष्ट्र सरकार ने महाराष्ट्र कंट्रोल ऑफ ऑर्गेनाइज्ड क्राइम एक्ट बनाया था। इसी कानून को बाद में दिल्ली में भी लागू कर दिया गया। 6 फरवरी, 2006 को दिल्ली पुलिस की विशेष शाखा ने खूँखार आतंकवादी बताकर दो मुस्लिम युवकों को गिरफ्तार किया। दिल्ली पुलिस के इस कारनामे की सुरक्षा विशेषज्ञों और मीडिया ने खूब तारीफ की। कुछ ही दिन बाद सीबीआई ने खुलासा किया कि दोनों युवक पुलिस के मुखबिर थे। दोनों में से एक इरशाद ने एक बच्चे का बाप बन जाने के चलते मुखबरी जैसे खतरनाक काम से इन्कार कर दिया। इसी 'न' के नतीजे के रूप में जान पर खेलकर देश के लिए जासूसी करनेवालों को देश के लिए खतरा घोषित कर दिया गया। सीबीआई द्वारा पेश किये गये तथ्य सही पाये गये और दिल्ली उच्च न्यायालय ने दोनों युवकों को जमानत पर रिहा कर दिया।

टाडा और पोटा जैसे क्रूर कानूनों की नकल करके तथा उसे और कठोर बनाकर गुजरात कंट्रोल ऑफ टेरेरिज्म एण्ड ऑर्गेनाइज्ड क्राइम बिल तैयार किया गया।

यह सम्भव नहीं कि एक क्रूर कानून को चार बार राष्ट्रपति की मंजूरी के लिए भेजनेवाली गुजरात सरकार इसके दुरुपयोग से अनजान हो। सच तो यह है कि वहाँ के शासक इस कानून के इन्हीं दुर्गुणों के कायल हैं। आतंकवाद विरोधी कानूनों के अभियोगों पर केन्द्रित सैन्टर फॉर इक्विटी स्टडीज की हालिया रिपोर्ट बताती है कि गुजरात में सन 2003 तक 'पोटा' के दर्ज किये गये सभी मामले मुस्लिमों के खिलाफ थे। रिपोर्ट आगे बताती है कि राज्य में 'टाडा' के तहत गिरफ्तार किये गये लोगों में से अधिकांश बाँध विरोधी प्रदर्शनकारी, ट्रेड यूनियनों के नेता और अल्पसंख्यक समूहों के लोग थे। हाल ही में गुजरात सरकार ने एक आदिवासी किसान नेता को गुजरात में लागू एक अन्य कठोर कानून-- प्रिवेन्शन ऑफ एन्टी एक्टिविटिज के तहत गिरफ्तार किया है। उसका कसूर केवल इतना था कि उसने भूमि अधिग्रहण के खिलाफ शान्तिपूर्वक प्रदर्शन किया था। आतंकवाद के खिलाफ लड़ने के नाम पर सरकारों के धिनौने कारनामों को सामने लानेवाली पुस्तक 'कापकालैण्ड' की लेखिका मनीषा सेठी का कहना है कि -- ''मोदी और उनके सहयोगियों का एजेण्डा आतंकवाद पर एकपक्षीय बहस और भय की मनोविकृति तैयार करना है। गुजरात को एक पूर्वावलोकन के रूप में देखना चाहिए। असली उद्देश्य एक क्रूर केन्द्रीय कानून बनाना और आतंकवाद के नाम पर विरोध के सभी रूपों का दमन करना है। गुजरात एक प्रयोगशाला की तरह काम कर रहा है।''

आतंकवाद विरोधी कानूनों का इतिहास बताता है कि इनके शिकार मुख्यतः हाशिये पर फेंक दिये गये किसान, मजदूर, आदिवासी, दलित, अल्पसंख्यक और इनके समर्थन में आवाज उठानेवाले राजनीतिक कार्यकर्त्ता बने हैं। सीआईआई और फिक्की जैसे पूँजीपतियों के संगठन इन क्रूर कानूनों का समर्थन करते हैं और इनके ''टास्क फोर्स रिपोर्ट ऑन नेशनल सिक्योरिटी एण्ड टेरेरिज्म'' जैसे दस्तावेज क्रूर कानून बनवाने के लिए सरकारों पर दबाव डालते हैं। भाजपा सरकार आक्रामक आर्थिक सुधारों के जिस रास्ते पर चल रही है उसमें जनता के लिए तेजी से बढ़ते कंगालीकरण के अलावा और कुछ नहीं है। समाज के अन्दर से इन नीतियों का प्रतिरोध होना लाजमी है। इस प्रतिरोध को दबाने के लिए जरूरी है कि जनता के अन्दर इतनी दहशत पैदा की जाये कि कोई सरकार की नीतियों का विरोध न कर सके और अगर कोई करे भी तो उसे बहुत आसानी से जेल में ठूँसा जा सके। लेकिन इतिहास बताता है कि प्रतिरोध की आवाजों को जितना दबाया जाता है वे घूमकर उतनी ही तेजी से वापस आती हैं।

झारखंड के पाँच जिलों में 38 पहाड़ गायब

प्राकृतिक सौन्दर्यत, जंगल और खनिजों के लिए प्रसिद्ध झारखंड के पाँच जिलों से 38 पहाड़ गायब हो गये हैं। राज्य के अन्य जिलों में भी अवैध खनन के कारण 80 से ज्यादा पहाड़ों का अस्तित्व खतरे में है।

इस खेल में पत्थर माफिया के अलावा कुछ भ्रष्ट अफसर और नेता भी शामिल हैं। नियम-कानून की धज्जियाँ उड़ाते हुए पहाड़ों की खुदाई हो रही है। जहाँ-तहाँ क्रशर मशीन लगी हैं। यहाँ तक कि संथाल में एक स्टेशन पर भी क्रशर मशीन लगी है। हाइवे के किनारे सैकड़ों क्रशर मशीनें लगी हैं। इनमें से अधिकतर अवैध हैं, पर कोई कार्रवाई नहीं होती। पहाड़ तोड़ने में माफिया जिन मजदूरों को लगाते हैं, सिलकोसिस जैसी बीमारियों से उनकी मौतें हो रही हैं।

जिन पहाड़ों को बनने में करोड़ों वर्ष लगते हैं, उन पहाड़ों को 15-20 साल में काटकर खत्म कर दिया गया है। अब नये पहाड़ बनने के आसार भी नहीं हैं। राजमहल के आसपास ऐसी पहाड़ियाँ थीं, जो 100 करोड़ वर्ष से ज्यादा पुरानी थीं। इन्हें भी काटा जा रहा है। कोई रोकनेवाला नहीं। पहाड़ों के नष्ट होने से पर्यावरण पर गम्भीर संकट उत्पन्न हो गया है। झारखंड में मौसम बदलने लगे हैं। बेमौसम बारिश हो रही है। नदियाँ तेजी से सूखने लगी हैं।

झारखंड के पाँच जिलों से 38 पहाड़ गायब हो गये हैं। इनका वजूद पूरी तरह खत्म हो गया है। जहाँ कभी पहाड़ियाँ हुआ करती थीं, आज समतल है। ये आँकड़े सिर्फ पाँच जिलों के हैं। झारखंड में 24 पहाड़ पूरी तरह खत्म होने की स्थिति में हैं। इनके आकार नाम मात्र के बचे हैं। इनमें हजारीबाग के 14, साहेबगंज के तीन, लोहरदगा के दो, पलामू के चार और कोडरमा के एक पहाड़ शामिल हैं। यही नहीं, छह जिलों के 53 पहाड़ों का अस्तित्व खतरे में है। इनकी खुदाई में हाथ लग चुका है। धनबाद, गिरिडीह और पूर्वी व पश्चिमी सिंहभूम में भी कई पहाड़ों में कटाई का काम चल रहा है। कुछ को तो सरकार ने लाइसेंस दिया है, बाकी अवैध हैं। पत्थर माफियाओं ने सबसे अधिक लातेहार में पहाड़ों को नुकसान पहुँचाया है।

जिले के विभिन्न हिस्सों में स्थित 23 पहाड़ जमीन में मिल गये हैं। इनका अस्तित्व लगभग खत्म हो गया है। कोडरमा में पाँच, गुमला में चार और लोहरदगा में तीन पहाड़ पूरी तरह खत्म हो गये हैं। संथाल परगना में पाकुड़ और साहेबगंज में भी कुछ पहाड़ गायब हो गये हैं।

इन जिलों में पत्थर माफिया नियमों को ताक पर रख कर खनन कर रहे हैं। सिर्फ कोडरमा के डोमचांच, मरकच्चो और चंदवारा में ही 600 से अधिक क्रशर हैं। यहाँ 150 से अधिक खदान हैं।

लोहरदगा में भी 72 छोटे-बड़े पहाड़ों को लीज पर दे दिया गया है। 28 क्रशर पत्थरों को तोड़ने के लिए तैयार बैठा है। जिले के ओएना टोंगरी पहाड़ 12 लोगों को लीज पर दिया गया है। यहाँ सात क्रशर काम कर रहे हैं।

हजारीबाग के जिला खनन पदाधिकारी नारायण राम के अनुसार, जिले में मात्र 10 क्रशर को ही लाइसेंस दिया गया है। पर हकीकत कुछ और है, हजारीबाग में सैकड़ों अवैध क्रशर चल रहे हैं। खबर तो यह है कि सिर्फ इचाक में 500 से अधिक क्रशर संचालित हैं। बरकट्ठा में करीब 100 क्रशर काम कर रहे हैं। जिले में क्रशर के 450 आवेदन पड़े हैं।

संथाल परगना में पाकुड़ और साहेबगंज जिला पत्थर खनन का हब बन गया है। कुछ पहाड़ों को तो सरकार ने ही लीज पर दिया था। पर तीन पहाड़ों को अवैध खनन ने खत्म कर दिया। सूत्रों के अनुसार, सिर्फ साहेबगंज से ही प्रतिदिन दो हजार ट्रक पत्थरों की ढुलाई होती है। पाकुड़ जिला खनन विभाग ने 2008 में 88 अवैध पत्थर माइनिंग को चिन्हित किया था। लगभग 300 एकड़ में फैले पहाड़ पर अवैध पत्थर खनन कार्य चलने की सूचना प्रशासन को थी।

झारखंड में सरकार आसानी से पहाड़ियों को काटने के लिए लीज दे रही है। सिर्फ राजमहल में 395 माइंस को लीज मिला है। यहाँ से खुदाई तो हो ही रही है लेकिन इसके अलावा यहाँ लगभग 2000 से ज्यादा स्थानों पर दिन रात विस्फोट कर पहाड़ों को तोड़ा जा रहा है। हाल में संथालपरगना के कई क्षेत्रों में विस्फोटक लदे वाहनों को पकड़ा भी गया है।

पत्थर माफिया लगातार अवैध खनन कर रहे हैं। बड़े पैमाने पर अवैध क्रशर और पत्थर खदान चल रहे हैं। कई इलाकों में सरकार ने पहाड़ों को लीज पर दे दिया है

इस धंधे में सभी तबके के लोग शामिल हैं। बड़े नेताओं और कई नौकरशाहों के यहाँ माइंस और क्रशर हैं। यही वजह है कि कभी किसी राजनीतिक दल ने इसे मुद्दा नहीं बनाया।

अवैध उत्खनन को रोकने की जिम्मेदारी खनन विभाग, वन विभाग, जिला प्रशासन और प्रदूषण नियंत्रण परिषद की है। पर इस इलाके में कोई भी अपनी भूमिका नहीं निभा रहा।

भूगर्भशास्त्री डॉ. सीताराम सिंह का कहना है कि ''राजमहल की पहाड़ियों के पास कुछ ऐसे फॉसिल्स पाये गये हैं, जो 10 लाख वर्ष पुराने हैं। इन्हें बचाना होगा।''

भूतत्व विभाग पूर्व निदेशक जयप्रकाश सिंह की राय में ''झारखंड में ज्वालामुखी नहीं फट सकता, इसलिए यहाँ पहाड़ भी नहीं बन सकते। इसलिए जो पहाड़ हैं, उन्हें भविष्य के लिए बचाना होगा।

आनेवाले कुछ सालों में अगर पत्थर माफिया ने झारखंड के सभी पहाड़ों को खत्म कर दिया, तो क्या होगा? पहाड़ी से निकलनेवाली नदियाँ सूख जायेंगी, पहाड़ के साथ-साथ जंगल स्वतः खत्म हो जायेंगे।

जलवायु परिवर्तन तेजी से होगा। बिना मौसम की बारिश होगी, फसल खराब होगी। पर्यावरणीय असन्तुलन बनेगा। उत्तराखंड में पहाड़ों को काटने के बाद की प्राकृतिक आपदा को पूरी दुनिया ने देखा है। आदिवासी संस्कृति में तो पहाड़ों, वन और नदियों का खास महत्त्व है। यह मनुष्य के जीवन से सीधा जुड़ा है। इसके नष्ट होने से मनुष्य का जीवन खतरे में है। इसके बावजूद झारखंड के राजनीतिज्ञों के लिए यह बहस का मुद्दा बन नहीं पाया है। अब भी नहीं चेते, तो प्रकृति के साथ खिलवाड़ करने का नतीजा भुगतने के लिए लोगों को तैयार रहना चाहिए।

(आभार प्रभात खबर।)

चीनी मीलों की चिन्ता, किसानों की किसे परवाह?

25 अप्रैल को नितिन गडकरी और शरद पवार चीनी उद्योग को संकट से बचाने के लिए पुणे के साखर परिषद में इकट्ठे हुए। उनके साथ महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री देवेन्द्र फड़नवीस भी थे। गडकरी ने कहा कि चीनी उद्योग संकट में हैं। वे किसानों को गन्ने का समर्थन मूल्य देने की स्थिति में नहीं हैं। गडकरी विदर्भ इलाके में तीन चीनी मिलें चलाते हैं। विदर्भ में ही सबसे अधिक संख्या में किसान आत्महत्याएँ करते हैं। शरद पवार का महाराष्ट्र के कई सहकारी चीनी मीलों पर इजारा कायम है। महाराष्ट्र किसान आत्महत्या के मामले में देश-भर में सब से आगे है।

इन दोनों नेताओं के अपने निजी स्वार्थ सीधे चीनी मिल मालिकों के साथ जुड़े हैं। इसीलिए ये अपनी ही चिन्ता करते हैं। अब तक इन नेताओं ने हजारों करोड़ का पैकेज चीनी मीलों को दिलवा दिया, लेकिन किसानों को गन्ने की बकाया कीमत दिलवाने में इनकी कोई दिलचस्पी नहीं है। उलटे मिल मालिकों की मजबूरी बताते हुए अब यह कह रहे हैं कि चीनी मिलें किसानों को गन्ने का समर्थन मूल्य देने में असमर्थ हैं।

समझना कठिन नहीं कि किसान आत्महत्याओं को लेकर ये नेता इतने लापरवाह और निष्ठुर क्यों हैं। मिल मालिक भला अपनी चिन्ता करेंगे कि किसानों की। सच तो यह है कि ये सफेदपोश ही किसानों को बदहाली और आत्महत्या की ओर धकेलते हैं।

अभी ज्यादा दिन नहीं हुए, जब गडकरी ने किसानों को नसीहत दी थी कि वे भगवान या सरकार पर भरोसा करना बन्द करें। चीनी मिलों की समस्या पर आयोजित उक्त बैठक में भी गडकरी ने किसानों को बिन माँगी सलाह दी कि माँग और पूर्ति के अन्तर को देखते हुए अब वे गन्ने की जगह दलहन, तिलहन फसल की ओर ध्यान दें। सवाल यह है कि क्या देश में सिर्फ गन्ना किसान ही घाटा उठा रहे हैं? इस वर्ष धान, सोयाबीन, आलू और कई अन्य नगदी फसल उगानेवाले किसानों को फसल की कीमत लागत से भी कम मिली। इससे पहले विदेशों से भारी मात्र में रेपसीड खरीदने के चलते तेलहन उगानेवाले किसान तबाह हुए थे। किसान विरोधी नीतियों की मार आज देश-भर में हर तरह की फसल उगानेवाले किसानों पर पड़ रही है।

बैठक में तय हुआ कि नितिन गडकरी और शरद पवार अपने राजनीतिक भेदभाव को त्यागकर अरुण जेटली से मिलेंगे और उनसे आग्रह करेंगे कि चीनी मीलों को संकट से उबारने का प्रयास करे। और यही हुआ। केन्द्र सरकार ने चीनी मिलों को जो पैकेज दिया, उसमें एथेनोल बनाने की छूट, कर्ज उगाही में ढील और चीनी आयात में टैक्स बढ़ाना शामिल है। लेकिन किसानों के लिए?

ब्राजील में आर्थिक संकट की धमक

15 मार्च के दिन दस लाख से अधिक सम्पन्न मध्यम वर्ग के लोगों ने ब्राजील की सड़कों पर मार्च करके विरोध प्रदर्शन किया। वे सरकार की नीतियों से असन्तुष्ट थे। ब्राजील में डिल्मा राउसेफ की मजदूर पार्टी की सरकार है। 2013 के सरकार विरोधी आन्दोलन की तुलना में यह प्रदर्शन बहुत संगठित था। उनकी माँगे प्रतिक्रियावादी हैं जो देश के अमीर लोगों के हित में हैं। वास्तव में यह प्रदर्शन अर्थव्यवस्था के संकटग्रस्त होने का नतीजा है।

दुनिया की सातवीं और लातिन अमरीका की सबसे बड़ी ब्राजील की अर्थव्यवस्था गहरे संकट में है। महँगाई बढ़ने की दर 8.13 प्रतिशत सालाना हो गयी है। 2005 से 2010 के बीच सकल घरेलू उत्पाद में औसत वृद्धि दर 4.5 प्रतिशत वार्षिक थी जो पिछले साल घटकर 0.1 प्रतिशत रह गयी। कमोबेश यही हाल बोलिविया, चिली, कोलम्बिया, एक्वाडोर और पेरू सहित अन्य लातिन अमरीकी देशों का भी है। इस साल इन देशों की वृद्धि दर 0.5 से 2 प्रतिशत के बीच रहने की सम्भावना है। ब्रिक देशों में चीन को छोड़कर अन्य देशों की आर्थिक स्थिति भी बेहद दयनीय है। रूस की वृद्धि दर 0.6 प्रतिशत और दक्षिण अफ्रीका की 1.4 प्रतिशत तक गिर चुकी है। कनाडा में भी आर्थिक संकट दस्तक दे रहा है। एक महीने में कनाडा के इतिहास की दूसरी सबसे बड़ी छँटनी की गयी। बैंक ऑफ कनाडा ने ब्याज दर में भारी कटौती करके सबको चौंका दिया। ब्राजील का चालू खाता घाटा 6.9 अरब डॉलर और व्यापार घाटा 2.8 अरब डॉलर से अधिक हो गया है। ब्राजील की मुद्रा टूट चुकी है। बेरोजगारी बढ़ने की दर फरवरी में 5.9 प्रतिशत हो गयी। ये सभी संकेत अर्थव्यवस्था के लिए अनिष्टकारी हैं।

विश्लेषकों का मानना है कि सरकारी तेल कम्पनी पेट्रोब्रास में बड़े घोटाले के खुलासे के बाद विदेशी निवेशकों का भरोसा टूट गया। मीडिया ने जिस तरीके से 'लावा जातो' नामक इस घोटाले का प्रचार किया, उससे दिक्कतें और बढ़ गयीं। इसके चलते विदेशी निवेशक अपनी पूँजी निकालकर उड़नछू होने लगे। सरकार को मुद्रा का अवमूल्यन करना पड़ा। वे तमाम घटनाएँ जो मन्दी आने पर दिखाई देती हैं, अपने तेवर दिखाने लगीं। लेकिन ये घटनाएँ केवल रोग के लक्षण मात्र हैं। मन्दी व्यवस्थाजन्य संकट है। लूला की भूतपूर्व सरकार और डिल्मा राउसेफ की वर्तमान सरकार ने नवउदारवादी नीतियों से निर्णायक तौर पर सम्बन्ध खत्म नहीं किया था। हालाँकि उन्होंने रोजगार और सार्वजनिक वितरण के क्षेत्र में बढ़िया काम किया था। नवउदारवादी नीतियों के चलते अर्थव्यवस्था को साम्राज्यवादी देशों से जोड़े रखा। इससे देर-सबेर ब्राजील की अर्थव्यवस्था को मन्दी का शिकार होना ही था। नवउदारवादी पापों का घड़ा फूटना ही था। दोनों सरकारें मजदूर राजनीति की ओर झुकाव के बावजूद अपनी नीतियों को लेकर स्पष्ट नहीं थीं। उन्होंने सत्ता हासिल करने के बाद मजदूर वर्ग में अपनी सत्ता का सुदृढ़ीकरण नहीं किया, जहाँ से उन्हें ताकत मिलती। उन्होंने समय बीत जाने दिया और देश में उग्र और जमीनी बदलाव को अंजाम नहीं दिया। नवउदारवादी वर्चस्व को तोड़ा नहीं और उसी में रास्ता तलाशते रह गये। साम्राज्यवादी मीडिया को अनाप-सनाप बकने के लिए खुला छोड़ दिया। अर्थव्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन को पूरा न करने में कोताही और असमर्थता के चलते ही उनका झुकाव नवउदारवाद की ओर बढ़ता चला गया। ऐसा न कर पाने के पीछे गठबन्धन की मजबूरी भी थी। मजदूर पार्टी की दोनों सरकारें दूसरी पार्टी और संगठन, नौकरशाही प्रशासन, साम्राज्यवादी मीडिया और मजदूर विरोधी न्याय तंत्र के भारी दबाव में काम करती थीं। फिर भी लूला की सरकार ने मेहनतकश वर्ग के लिए काम करने में कोई कसर न उठा रखी थी। इन सरकारों की कमजोरियाँ उनकी ऐतिहासिक नियति है। दो ही रास्ते थे। या तो वे साम्राज्यवाद के साथ चल सकते थे या साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद करके भारी कुर्बानी देकर समाज का पूर्ण कायाकल्प कर देते। मौजूदा विश्व शक्ति सन्तुलन को देखते हुए दूसरा रास्ता उनके लिए आसान नहीं था। अन्ततः उन्होंने पहले को चुना।

सच तो यह है कि आप आधे रास्ते में नहीं रुक सकते। इस पार या उस पार जाना ही होगा। उन रास्तों की मुश्किलों और नतीजों का सामना करना ही पड़ेगा। नवउदारवाद की ओर झुकने का सीधा नतीजा है-- आर्थिक मन्दी। पिछले सात सालों की वैश्विक अर्थव्यवस्था पर नजर डालने से यह पता चलता है कि वैश्विक मन्दी एक चिरस्थाई गतिहीन गड्ढे की तरह है जिसमें कभी-कभी विकास के बुलबुले उठते रहते हैं। अमरीका अपने माल और पूँजी के साथ मन्दी का भी निर्यातक बन गया है। ब्राजील के साथ-साथ भारत ने भी अपनी अर्थव्यवस्था को काफी हद तक साम्राज्यवादी अमरीका के हितों के अनुकूल ढाला। पूरी तरह न ढाल पाने के पीछे मजदूर वर्ग के आन्दोलनों का भारी दबाव काम कर रहा था। वैश्विक मन्दी की स्थिति में यह हिस्सा अप्रभावित रहा और विकास करता रहा। मजेदार बात यह है कि इस विकास के लिए उन सरकारों ने अपनी पीठ थपथपायी जो नवउदारवाद के चरणों में लोट रही थीं। आंशिक उदारीकरण के चलते वैश्विक मन्दी के बावजूद इनकी अर्थव्यवस्थायें यूरोपीय देशों की तरह तबाही के कगार पर नहीं पहुँच गयीं। तीसरी

दुनिया के देशों में आज भी पूँजी निवेश की अपार सम्भावनाएँ हैं। लेकिन आर्थिक जगत की डाँवाडोल स्थिति के कारण विदेशी निवेशक अधिक सुरक्षा की माँग कर रहे हैं। वे चाहते हैं कि सरकारें अपनी बची-खुची जन कल्याणकारी योजनाओं को भी बन्द कर दें। उन्हें पूँजी निवेश पर मुनाफे की गारन्टी दें। सरकारी संस्थानों और कम्पनियों को कौड़ियों के मोल उन्हें बेच दें। उच्च वर्ग और सम्पन्न मध्यम वर्ग के हित विदेशी निवेशकों के साथ सुरक्षित हैं। इन निवेशकों की माँगों के समर्थन में ही 15 मार्च को ब्राजील में मध्यम वर्ग का आन्दोलन चलाया गया। ताकि सुधारों को तेज करने के लिए डिल्मा राउसेफ की सरकार पर दबाव बनाया जा सके।

अगर सरकारें आर्थिक सुधारों को तेज करने के लिए नवउदारवाद के चरणों में दण्डवत लेट जायेंगी तो हो सकता है कि सामयिक तौर पर अर्थव्यवस्था को गति मिल जाय। लेकिन कुछ समय बाद संकट फिर आयेगा। तब वह अधिक व्यापक और विनाशकारी होगा। नवउदारवादी शोषण से पीड़ित सबसे बड़े वर्ग के उठ खड़े होने का खतरा पैदा हो जायेगा। तब मजदूर आन्दोलन का एक ऐसा तूफान आयेगा जो इस व्यवस्था की चूलें हिला देगा।

फिलीस्तीनी नागरिकों का नरसंहार जारी

हाल ही में एसोसिएटेड प्रेस ने एक रिपोर्ट जारी की है जिसमें पिछले साल इजरायली हवाई हमले में मरनेवाले लोगों की स्थिति का लेखा-जोखा दिया गया है। ऑपरेशन प्रोटेक्टिव एज के नाम से हुए 247 हवाई हमलों में उन लोगों की भी दास्तान बताई गयी है जिनके घर ध्वस्त कर दिये गये। मरनेवालों में 4 साल के बच्चे से लेकर 92 साल के बूढ़े तक शामिल हैं। यह रिपोर्ट स्तब्धकारी है।

कुल मरनेवालों में से एक-तिहाई 16 साल से कम उम्र के बच्चे हैं। इन 280 बच्चों में से 19 नवजात शिशु और 1 से 5 साल तक की उम्र के 108 बच्चे हैं। 83 हमलों में एक ही परिवार के 3 या 3 से अधिक लोग मारे गये। 16 से 59 साल के कुल 280 मृतकों में से किसी भी व्यक्ति का हमास से दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं पाया गया।

नागरिकों के घर पर निशाना साधकर किया गया सैनिक हमला अन्तरराष्ट्रीय कानून की धज्जियाँ उड़ाना है। इस कानून का एक चोर दरवाजा यह है कि अगर उग्रपंथी नागरिकों के घर में छुपे हों तो उन घरों पर हमला किया जा सकता है, लेकिन हमले में मरनेवाले 844 फिलीस्तीनी नागरिकों में से गिने-चुने ही हमास के लड़ाके थे। जाहिर है कि इस बहाने नागरिकों के क्रूरतापूर्ण नरसंहार को उचित नहीं ठहराया जा सकता। अमरीकी और इजरायली हमलावर अपने कुकृत्य को छूपाने के लिए बेगुनाहों के कत्लेआम को ''सहवर्ती नुकसान'' (कोलेट्रल डेमेज) कहकर छुपाते हैं।

फिलीस्तीनी मानवाधिकार संगठनों ने आरोप लगाया है कि इजरायलियों के पास कोई विशेष सूचना नहीं है जिसके आधार पर उन्होंने नागरिकों के मकानों पर हमला किया। ऐसे में यह नरसंहार युद्ध-अपराध की श्रेणी में आता है। इजरायलियों ने हमास के जिन हमलों को बहाना बनाया है उसमें ''50 दिन के युद्ध'' के दौरान केवल 5 इजरायली नागरिक मारे गये थे।

इजरायली प्रधानमंत्री बेंजामिन नेतन्याहू नस्ली हिंसा के लिए बदनाम रहे हैं। उनके सत्ता में आगमन के बाद अपने ही देश में जलावतनी के शिकार फिलीस्तीनी नागरिकों का कत्लों-गारत होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। लेकिन क्या ये हवाई हमले फिलीस्तीनी नागरिकों के आजादी के सपने को दफन कर पायेंगे।

तोड़ो

तोड़ो तोड़ो तोड़ो
ये पत्थर ये चट्टानें
ये झूठे बंधन टूटें
तो धरती का हम जानें
सुनते हैं मिट्टी में रस है जिससे
उगती दूब है
अपने मन के मैदानों पर व्यापी
कैसी ऊब है
आधे आधे गाने

तोड़ो तोड़ो तोड़ो
ये ऊसर बंजर तोड़ो
ये चरती परती तोड़ो
सब खेत बनाकर छोड़ो
मिट्टी म. रस होगा ही जब वह
पोसेगी बीज को
हम इसको क्या कर डालें इस
अपने मन की खीज को?
गोड़ो गोड़ो गोड़ो

--रघुवीर सहाय

सामाजिक वर्गों की पैदाइश और दूसरी कहानियाँ

– एदुआर्दो गालेआनो

(उरूग्वे में जन्मे और दुनिया-भर में जन पक्षधर लेखक-पत्रकार के रूप में मशहूर एदुआर्दो गालेआनो का 13 अप्रैल को निधन हो गया। उनके निधन के बाद उनके लेखन और जीवन के बारे में बहुत कुछ लिखा और पढ़ा जा रहा है। साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलनों में उनके जाने से एक तरह की उदासी है और कुछ देर की खामोशी, कि एक आवाज जो झूठ और फरेब के मलबे के बीच फावड़े की तरह अपना रास्ता बनाती थी और परचम की तरह गरदन ताने दुनिया का सफर करती थी, अब चुप हो गयी। हालाँकि उनके शब्द मौजूद हैं और उन्हीं में से एक इंतखाब यहाँ पेश है। उनकी किताब एस्पेखोस : उना इस्तोरिया कासी उनिवेर्साल (आईने : करीब-करीब हरेक की कहानी) से कुछ अंश। स्पेनिश से अनुवाद : रेयाज उल हक।)

सामाजिक वर्गों की पैदाइश

शुरुआती दिनों में, भूख के उन दिनों में, पहली औरत मिट्टी कुरेद रही थी कि सूरज की किरणें पीछे से आकर उसके भीतर दाखिल हो गयीं। पल-भर में ही, एक बच्चे का जन्म हुआ।

पचाकमाक देवता को सूरज की यह हरकत बिल्कुल पसन्द नहीं आयी और उसने अभी-अभी पैदा हुए बच्चे के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। उस मरे हुए बच्चे में से पहले पौधे फूटे। दाँतों से अनाज के दाने बने, हड्डियाँ युका बनीं, माँस आलू, जैम और स्क्वैश में तब्दील हुआ...।

फिर तो सूरज को बहुत तेज गुस्सा आया। उसकी किरणों ने पेरू के तट को जला डाला और उसे हमेशा के लिए सूखा बना दिया। बदले की आखिरी हरकत के बतौर उसने मिट्टी में तीन अंडे फोड़े।

सुनहरे अंडे से मालिक पैदा हुए।

रुपहले अंडे से मालिकों की औरतें पैदा हुईं।

और ताम्बे के अंडे से वे पैदा हुए, जो मेहनत करते हैं।

गुलाम और मालिक

काकाओ को सूरज की जरूरत नहीं थी, क्योंकि उसके पास अपना सूरज था।

उसकी भीतरी चमक से चॉकलेट का मजा और उससे मिलनेवाली खुशी बनती थी।

बुलन्दी पर रहनेवाले देवताओं ने गाढ़े रोगन पर कब्जा कर लिया और हम इनसान नादानी में रहने के लिए मजबूर कर दिये गये।

केत्जालकोआत्ल ने उसे तोल्तेक्स के लिए चुरा लिया। जब बाकी के देवता सो रहे थे, उसने कुछ बीज लिये और उन्हें अपनी दाढ़ी में छुपा लिया। फिर वह मकड़ी के जाल के एक बड़े से धागे के सहारे धरती पर उतरा और उन बीजों को उसने तुला शर में पेश किया।

केत्जालकोआत्ल के तोहफे को शहजादों, पुजारियों और जंगी सरदारों ने हड़प लिया।

उनकी पसन्द को ही पसन्द के लायक समझा गया।

और चूँकि जन्नत के मालिकों ने फानी इनसानों के लिए चॉकलेट को हराम ठहराया था, इसलिए धरती के मालिकों ने इसे आम इनसानों के लिए हराम बना दिया।

एक खतरनाक हथियार

तीस से ज्यादा देशों में रिवाज यह है कि (औरतों के यौनांग) क्लाइटोरिस को काटकर हटा दिया जाये।

यह खतना पति को अपनी औरत या अपनी औरतों को अपनी जायदाद मानने के अधिकार की तस्दीक करता है।

औरतों का अंग काटनेवाले यह कहकर इस जुर्म को जायज ठहराते हैं कि वे औरतों के मजे को पाक बना रहे हैं और वे बताते हैं कि क्लाइटोरिस

एक जहरीला तीर है

बिच्छू का एक डंक है

दीमकों का खोता है

यह मर्दों को मार डालता है या उन्हें बीमार बनाता है

औरतों को उकसाता है

उनके दूध में जहर घोलता है

और उनकी प्यास को बुझने नहीं देता

और उन्हें पागल बना देता है

वे अपनी इस हरकत को जायज ठहराने के लिए पैगम्बर मुहम्मद का हवाला देते हैं, जिन्होंने कभी इस मामले में कुछ नहीं कहा। वे कुरान का भी हवाला देते हैं, जबकि उसमें भी इसका कोई जिक्र तक नहीं है।

शैतान गरीब है

आज शहर एक बहुत बड़ी जेल है, जिसमें खौफ के कैदी रहते हैं, जहाँ मोर्चेबन्दियों को घरों की शक्ल दी गयी है और कपड़े बख्तरों की शक्लें हैं।

एक घेरेबन्दी। अपना ध्यान भटकने मत दो, अपनी चौकसी को कभी ढीला मत पड़ने दो, कभी भरोसा मत करो, इस दुनिया के मालिक यह कहते हैं। बेधड़क मालिक जो आबोहवा से बलात्कार करते हैं, देशों को अगवा करते हैं, मजदूरियाँ छीन लेते हैं और सामूहिक जनसंहार करते हैं। वे चेतावनी देते हैं, खबरदार, बुरे लोग भरे पड़े हैं, बदनसीब झुग्गियों में ठसमठस, अपनी अदावत को अपने भीतर सुलगाते हुए, अपने जख्मों को बेकरारी से कुरेदते हुए।

गरीब : हर तरह की गुलामी के लिए एक फटेहाल कंधा, सभी जंगों के लिए लाशें, सभी जेलों के लिए माँस, सभी नौकरियों के लिए मोलभाव के हाथ।

भूख, जो खामोशी से मारती जाती है, खामोश लोगों को भी मार डालती है। विशेषज्ञ उनके लिए बोलते हैं, गरीबी के माहिर, जो हमें बताते हैं कि गरीब क्या नहीं करते हैं, कि वे क्या नहीं खाते हैं, कि वे कितने वजनी नहीं हैं, कि वे किस बुलन्दी तक नहीं पहुँच सकते, कि वे क्या नहीं सोचते, कि वे किन पार्टियों को वोट नहीं देते, कि वे किसमें यकीन नहीं करते।

अकेला सवाल, जिसका जवाब नहीं दिया जाता कि गरीब लोग आखिर गरीब क्यों हैं। क्या शायद ऐसा इसलिए है कि हम उनकी भूख पर पलते हैं और उनकी बेपर्दगी से अपना तन ढकते हैं?

शासक और शासित

येरुशेलम का बाइबल कहता है कि बनी इजराइल खुदा के चुने हुए लोग थे। वे खुदा की औलाद थे।

दूसरी आयत के मुताबिक, चुने हुए लोगों को राज करने के लिए दुनिया बख्शी गयी थी :

मुझसे माँगो, और मैं विरासत में तुम्हें काफिर दूँगा, और तुम्हारी मिल्कियत में धरती का सबसे ऊपरी हिस्सा।

लेकिन बनी इजराइल ने खुदा को बहुत नाराज किया, वे नाशुक्रे और गुनहगार थे। और अनेक धमकियों, बद्दुआओं और सजाओं के बाद खुदा का सब्र तमाम हुआ।

तब से दूसरे लोगों ने तोहफे पर दावा ठोंक रखा है।

सन 1900 में, संयुक्त राज्य के सीनेटर अल्बर्ट बेवेरिज ने कहा– 'सर्वशक्तिमान परमेश्वर ने चुने हुए लोगों के रूप में हमारी निशानदेही की है, आगे से दुनिया को फिर से पैदा करने में रहनुमाई के लिए।'

मेहनत के बँटवारे की शुरुआत

कहते हैं कि राजा मनु ही थे, जिन्होंने भारत की जातियों को दैवीय बनाया।

ब्रह्मा के मुँह से पुरोहित पैदा हुए। उसकी बाहों से राजा और योद्धा। उसकी जाँघों से व्यापारी। उसके पैरों से गुलाम और कारीगर।

और इस बुनियाद पर एक सामाजिक पिरामिड खड़ा हुआ, भारत में जिस पर तीन हजार से ज्यादा कहानियाँ हैं।

हरेक वहीं पैदा होता है, जहाँ उसे पैदा होना चाहिए। वही करने के लिए, जो उसे करना चाहिए। पालने में ही कब्र है, पैदाइश ही मंजिल है, हमारी जिन्दगियाँ हमारी पहले की जिन्दगियों का फल हैं या वाजिब सजा और यह विरासत ही हमारी जगह और हमारी भूमिका को तय करती है।

भटकावों को ठीक करने के लिए राजा मनु ने सिफारिश की, 'अगर निचली जाति का कोई इनसान पवित्र ग्रंथों के श्लोकों को सुन लेता है, तो उसके कानों में पिघला हुआ शीशा डाला जाय; और अगर वह उनका पाठ करता है, तो उसकी जीभ काट ली जाये।' ऐसी सीख अब चलन में नहीं है, लेकिन जो कोई भी अपनी जगह से हिलता-डुलता है, प्यार में, काम में, या चाहे जिस भी वजह से, वह सरेआम कोड़ों से पीटे जाने का जोखिम उठाता है, जिसका अंजाम उसे मुर्दा बना सकता है या वह बच भी गया तो मुर्दा ही ज्यादा बचता है।

जातिहीन (अवर्ण) लोग, हरेक पाँच में से एक भारतीय, सबसे नीचे हैं। उन्हें 'अछूत' कहा जाता है, क्योंकि उनसे छूत फैलती है-- वे घिनौनों में भी घिनौने हैं, वे दूसरों से बात नहीं कर सकते, उनके रास्तों पर चल नहीं सकते, उनका गिलास या प्लेटें नहीं छू सकते। कानून उनकी हिफाजत करता है, लेकिन समाजी हकीकत उन्हें छाँटकर अलग करती है। मर्दों को कोई भी जलील कर सकता है, औरतों के साथ कोई भी बलात्कार कर सकता है और सिर्फ तभी ये अछूत, छूने लायक बन जाते हैं।

2004 के आखिर में, जब सुनामी ने भारत के तटों को रौंद डाला, वे मलबा और लाशें उठा रहे थे।

हमेशा की तरह।

''सभी देशों की मेहनतकश जनता के हित में, लेखकों को एक लड़ाकू यथार्थवाद को अपनाने के लिए ललकारा जाना चाहिए। केवल एक समझौताविहीन यथार्थवाद, जो सच्चाई पर, यानी शोषण-उत्पीड़न पर पर्दा डालने के सभी प्रयासों से जूझेगा, केवल वही शोषण और उत्पीड़न की कड़ी निन्दाकर उनकी कलई खोल सकता है।''

--बर्तोल्त ब्रेख्त

साहित्य

'जो कहा जाना चाहिए' सो कहा जाना चाहिए

–पंकज बिष्ट

(फासीवाद-विरोधी, नोबेल पुरस्कार प्राप्त, 87 वर्षीय जर्मन साहित्यकार गुंटर ग्रास का 13 अप्रैल को देहान्त हो गया। तीन साल पहले उन्होंने ज्वलन्त सामयिक मुद्दों पर दो कविताएँ लिखी थीं जो अपने ताप-तेवर और प्रतिरोधी स्वर के चलते काफी विवादास्पद हुई थीं। पहली कविता इजराइल के युद्धोन्माद पर थी और दूसरी नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के चलते यूनान की तबाही पर। यहाँ हम विश्व जन-गण के उस महान साहित्यकार को याद करते हुए इजराइल के युद्धोन्माद पर लिखी उनकी कविता - 'जो कहा जाना चाहिए' और इस कविता पर समयान्तर के सम्पादक पंकज बिष्ट की गम्भीर और सारगर्भित टिप्पणी प्रकाशित कर रहे हैं जो समयान्तर के मई 2012 अंक में प्रकाशित हुई थी। इसके लिए हम समयान्तर के आभारी हैं- स.)

खराब कविता बनाम बड़ा सरोकार

जर्मन कथाकार, कवि, मूर्तिकार और लेखक गुंटर ग्रास की कविता 'जो कहा जाना चाहिए' मात्र लेखक की सामाजिक भूमिका के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी नहीं है बल्कि लेखकों, रचनाकारों और कलाकारों को एक आह्वान भी है कि जब चीजें सर से गुजर जायें तो चुप नहीं रहना चाहिए। यह कविता इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि गुंटर ग्रास 84 वर्ष के हैं और वह मानव सभ्यता का भीषणतम युद्ध और उससे हुई बर्बादी देख चुके हैं। वह समकालीन योरोपीय ही नहीं बल्कि दुनिया के शीर्षस्थ लेखकों में हैं।

दूसरे महायुद्ध के दौरान उन्हें जबरन भर्ती के तहत हिटलर की सेना में सहायक के रूप में काम करना पड़ा था। इस तथ्य को वह एक अर्से तक छिपाये रहे। कुछ वर्ष पहले प्रकाशित अपनी जीवनी *पीलिंग द ओनियन* (प्याज के छिलके) में पहली बार उन्होंने इसका खुलासा किया और इसको लेकर खासा हंगामा भी खड़ा किया गया, विशेषकर यहूदी लॉबी ने जो योरोप और खासकर अमरीका में बहुत सक्रिय और प्रभावशाली है। यहाँ तक माँग की गयी कि उनको दिये नोबेल पुरस्कार को वापस ले लिया जाये। तर्क दिया गया कि यह तो ठीक है कि उन दिनों जर्मन सेना में जबरन भर्ती होती थी पर ग्रास ने इस तथ्य को छह दशक तक क्यों छिपाये रखा।

पर यह महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। महत्त्वपूर्ण यह है कि अगर वह चाहते तो कम से कम उनके जीवनकाल में यह किसी को पता नहीं चलता। लेकिन उन्होंने अन्ततः यह बतला ही दिया। यहाँ उनका चुप रहना महत्त्वपूर्ण नहीं है बल्कि यह मान लेना महत्त्वपूर्ण है कि वह हिटलर की सेना एसएस में काम करते थे। इस सन्दर्भ में यह नहीं भूलना चाहिए कि फासीवाद के दौरान जर्मन में जो हुआ उसे लेकर पूरा जर्मन समाज भयावह अपराध बोध से त्रस्त रहा है और आज भी है। यह असम्भव नहीं कि वही अपराधबोध और शर्म निजी तौर पर लेखक को परेशान करते रही होंगी। याद किया जा सकता है कि उनके लेखन को जर्मनी के उस कला आन्दोलन का हिस्सा माना जाता है जिसे मोटे तौर पर 'विगत से तालमेल बैठाना' के रूप में जाना जाता है। यह तालमेल क्या उस अपराध बोध से मुक्त होने की कोशिश के अलावा भी कुछ है? उनके उपन्यास *टिन ड्रम, कैट एंड माउस* और *डॉग इयर,* जो दानजिग ट्रिलॉजी कहलाते हैं, नात्सीवाद के उदय और युद्ध के अनुभवों की अभिव्यक्ति हैं। ये दानजिग शहर की मिश्रित जनसंख्या और विशिष्ट संस्कृति की पृष्ठभूमि पर लिखे गये हैं। दानजिग अब पोलैंड में है और गंदास्क कहलाता है। सन 1945 में ग्रास का परिवार शरणार्थी के तौर पर जर्मनी आया और पश्चिम जर्मन में बस गया।

गुंटर ग्रास का क्या महत्त्व है वह इसी बात से समझा जा सकता है कि उनकी एक कविता मात्र ने अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर कोहराम मचा दिया है। यही नहीं कि गुंटर ग्रास जर्मनी के सबसे बड़े जीवित लेखकों में हैं बल्कि उन्हें जर्मन का 'कांसेंशकीपर' भी माना जाता है। यानी उनका हर मामले में स्टैंड नैतिक होता है, जो औरों को प्रेरणा देता है। सन 1989-90 के दौरान उन्होंने जर्मनी के एकीकरण का विरोध किया था। उनका मानना था कि एकीकृत हो जाने के बाद जर्मनी अनावश्यक रूप से आक्रामक तेवर अपनाने लगेगा। (फिर वही अपराधबोध?) वह देश की उदार समाजवादी राजनीति से जुड़े रहे हैं।

पर इसका दूसरा पक्ष भी है, जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वह है, इजरायल की आक्रामकता, विशेषकर उसके द्वारा किया जा रहा फिलिस्तीनियों का दमन, उसका विस्तारवाद और पश्चिमी देशों द्वारा उसे

लगातार शस्त्रों से लैस किया जाना। यह भी किसी से छिपा नहीं है कि इजरायल के पास नाभिकीय बम हैं और उसकी जो प्रवृत्ति रही है उसके चलते यह असम्भव नहीं है कि वह उनका प्रयोग करने में न झिझके। मात्र ग्रास ही इस बात को नहीं समझ रहे हैं बल्कि इसको लेकर पूरे योरोप में बेचैनी है और इजरायल को लेकर अपने शासकों से असहमति का माहौल भी है। इसलिए ग्रास की यह कविता *'वास गेजाख्त वेर्डेन मुस'* 4 अप्रैल को मात्र जर्मन दैनिक *सुदएत्शे जायतुंग* में ही नहीं बल्कि योरोप की विभिन्न भाषाओं के कई अखबारों में एक साथ छपी।

यह सही है कि फासीवाद के दौरान अकेले जर्मनी में 60 लाख यहूदियों को मारा गया था, जो आज भी जर्मनी के गहरे अपराधबोध का कारण बना हुआ है। देश में जियोनवाद विरोधी (यहूदी विरोधी) होना दूसरे विश्वयुद्ध के बाद से खराब गाली और अपराध माना जाता रहा है। इस दबाव के चलते वहाँ का कोई भी राजनीतिक दल इजरायल के विरुद्ध बोलने की हिम्मत नहीं करता। इसके अलावा चूंकि अमेरिका की ताकतवर यहूदी लॉबी सरकार की विदेश नीतियों को प्रभावित करती है इसलिए भी जर्मनी या कोई और योरोपीय देश पश्चिम एशिया में इजरायल जो कर रहा है उसके खिलाफ बोलने की हिम्मत नहीं कर पाता।

इसलिए जैसा कि होना था इजरायली प्रधानमंत्री ने तत्काल ग्रास पर आरोप लगाया कि वह यहूदी विरोधी हैं और उनका सम्बन्ध नाजी सेना से रहा है। इतना ही नहीं इजरायल ने ग्रास को अवांछित व्यक्ति (पर्सोना नॉन ग्राटा) घोषित कर उनके अपने देश में घुसने पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। यहाँ तक कि पश्चिमी मीडिया ने भी ग्रास पर हमला किया। पर वह इससे विचलित नहीं हैं। उलटा यह सब इजरायल की असहिष्णुता और आक्रामकता को ही दर्शाता है। इजरायल हर बार अपने अस्तित्व के सवाल को तो उठाता है पर वह कभी दूसरों के अस्तित्व के सवाल का सम्मान करने को तैयार नहीं है। पिछले सात दशकों का इतिहास यह है कि वह लगातार आक्रामक रहा है और उसने पड़ोसी देशों पर हमले किये हैं।

इसलिए ग्रास ने जो कविता लिखी है वह बहुत सोच-समझकर लिखी है और ऐसा भी नहीं है कि वह इसके खतरे से अनभिज्ञ थे। स्वयं कविता की एक पंक्ति में उन्होंने आशंका व्यक्त की है कि सच कहने पर उन्हें तत्काल यहूदी विरोधी कहा जायेगा।

ऐसा भी नहीं है कि दुनिया इजरायल के कारनामों से परिचित न हो पर योरोपीय सरकारें लगातार इसे अनदेखा करती रही हैं। असल में जो पाप योरोप ने यहूदियों के साथ किया, उसके बदले में योरोपीय राष्ट्र इजरायलियों के हाथों फिलिस्तीनों की बलि चढ़वा रहे हैं। पिछली एक सदी से पश्चिमी एशिया में लगातार उथल-पुथल जारी है जिसके लिए पूरी तरह से जिम्मेदार पश्चिमी खेमा है। सच यह है कि इजरायल अमरीकी साम्राज्यवाद और विश्व के पूँजीवाद की पश्चिमी एशिया में चौकी है और वह उनके हितों की देखभाल करता है।

ईरान पर हमले के लिए इजरायल लगातार 'एजेंट प्रोवोकेटियर' (भड़कानेवाले) का काम कर रहा है। यह निश्चित लग रहा है कि अगर ईरान पर हमला हुआ तो उसमें इजरायल बड़ी भूमिका निभायेगा। अमरीका ईरान पर हमले का बहाना ढूँढ रहा है और यह उसके पश्चिम एशिया पर नियंत्रण के वृहत्तर मंसूबों का ही हिस्सा है, जो कुल मिलाकर वहाँ के प्राकृतिक संसाधनों यानी तेल के लिए है। बल्कि लगता है अगर ईरान पर हमला होता है तो वह इजरायल के बहाने ही होगा। यह हमला इराक, लेबनान, अफगानिस्तान आदि देशों के मुकाबले कहीं अधिक खतरनाक साबित हो सकता है। इसमें परमाणु हथियारों का दो तरफा इस्तेमाल होने की पूरी सम्भावना है। ईरान में इस समय जो शासक हैं वे स्वयं इतने आततायी हैं कि जनता उनके कारनामों से पहले से ही त्रस्त है। यह युद्ध ईरानी शासकों को कितना नुकसान पहुँचायेगा, कहा नहीं जा सकता पर इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि इसका सारा नुकसान वहाँ की मासूम जनता को तो भोगना ही होगा आसपास के देशों पर भी इसका दुष्प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा।

ऐसे में ग्रास की चिन्ता मुख्यतः शान्ति को लेकर है। वह योरोपीय देशों द्वारा इजरायल को हथियार देकर उसकी मानवविरोधी गतिविधियों में शामिल होने से भी सहमत नहीं हैं। वह नहीं चाहते कि उनका देश इजरायल को ऐसी घातक पनडुब्बियाँ दे जो किसी भी तरह के हथियार ले जा सकती हैं और उनसे मारकर सकती हैं। यह चिन्ता एक मानवीय चिन्ता है और एक बड़े लेखक की मानव समाज के प्रति प्रतिबद्धता को दर्शाती है। दुनिया के लोगों के विरोध और असहमति के प्रति इजरायल का जो रवैया है वह बतलाता है कि यह देश कभी भी किसी की परवाह नहीं करता। अन्तरराष्ट्रीय जनमत को ठेंगे पर रख कर इजरायली सरकार ने जिस तरह से उसके घेरे में भूखे मर रहे फिलिस्तीनियों के लिए ले जायी जा रही सहायता सामग्री के जहाजी बेड़े पर हमला किया और जिस तरह से इसी महीने के मध्य में शान्तिपूर्ण प्रदर्शन के लिए इजरायल आनेवाले प्रदर्शनकारियों को रोका, वे बतलाते हैं कि इस देश का तौर-तरीका कितना अलोकतांत्रिक और अमानवीय है।

'जो कहा जाना चाहिए' शीर्षक यह कविता एक लेखक के सामाजिक सरोकारों और प्रतिबद्धता बनाम रूप और सौंदर्य को लेकर भी कुछ बातें कहती है। जर्मनी में इजरायल के राजदूत ने ग्रास पर आक्रमण करते हुए कहा था कि यह कविता नहीं बल्कि प्रचार है। इसमें शक भी नहीं है। पर सवाल यह है कि जब आदमी मारे जा रहे हों और दुनिया युद्ध की कगार पर हो, उसका पूरा भविष्य ही खतरे में हो, कलात्मकता का क्या औचित्य रह जाता है! असली बात यह है कि कविता जो कहना चाहती थी उसने वह कह दिया है। यह कविता अपने काव्य सौन्दर्य के कारण नहीं बल्कि अपने सरोकारों के लिए याद की जायेगी।

(कविता तीसरे कवर पृष्ठ पर)

पोंगापंथी विचारधारा और आधुनिक भारत

–गिरीश मिश्र

इक्कीसवीं सदी में भाजपा भारत को आधुनिक राष्ट्र बनाने का दावा कर रही है मगर उसकी विचारधारा पोंगापंथी है। केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री स्मृति ईरानी अपने पूर्ववर्ती मुरली मनोहर जोशी के पदचिन्हों पर चल रही हैं। वर्षों पूर्व जब जोशी, वाजपेयी सरकार में मंत्री थे तब विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने एक परिपत्र जारी किया था जिसके अनुसार ''भारत में वैदिक ज्योतिष विज्ञान का कायाकल्प करने, इस वैज्ञानिक ज्ञान को सारे समाज में फैलाने तथा इस महत्त्वपूर्ण विज्ञान को विश्व भर में निर्यात के अवसर देने की उचित आवश्यकता है।''

हिन्दुत्ववादी जो कुछ भी सोचें या कहें, प्लेग की तरह ही फलित ज्योतिष भारत भूमि की उपज नहीं है। अन्तर यही है कि प्लेग अनेक देशों से होता हुआ जब भारत पहुँचा तब तक फलित ज्योतिष अपनी जड़ें जमा चुका था। कहना न होगा कि दोनों के प्रभाव में काफी समानताएँ थीं। इनके चंगुल में आने पर कोई भी जिन्दा नहीं बचता। प्लेग शारीरिक तौर पर, तो फलित ज्योतिष मानसिक तौर पर आधमी को शिकार बनाता रहा है।

टीके और अन्य उपायों से प्लेग दुनिया से विदा हो चुका है मगर फलित ज्योतिष अनेक भारतीयों के मन-मानस पर काबिज है। उसकी जड़ें अज्ञात, अनिश्चितता, डर तथा असुरक्षा में निहित है।

फलित ज्योतिष की जड़ें मेसोपोटामिया और यूनान में ईसा के हजारों वर्षों पहले ढूँढी जा सकती हैं। घुसिडाइड्स ने अपनी पुस्तक में डेल्फी के दिव्यवक्ता का जिक्र किया है। कहते हैं कि शासक वर्ग दिव्यवक्ताओं से मार्गदर्शन लेते थे क्योंकि उनके पास पूर्वानुमान के लिए ठोस मॉडल थे। वे अपने तंत्र के जरिए सूचनाएँ एकत्रकर उनका विश्लेषण करते थे क्योंकि उनकी साख, वैभव और यश भविष्यवाणी की सत्यता पर टिका था। भारत में ऋग्वेद के अस्तित्व में आने के बाद अनेक वर्षों तक न फलित ज्योतिष का और न ही उससे जुड़े कार्यकलाप की कहीं कोई मौजूदगी थी। स्वयं ऋगवेद का मानना था कि देवताओं सहित कोई भी सृष्टि के रहस्य समझ पाने में समर्थ नहीं है : कौन मनुष्य जानता है और यह कौन कहेगा कि यह सृष्टि कहाँ से और किस कारण उत्पन्न हुई क्योंकि विद्वान या दूरदर्शी भी इस सृष्टि के उत्पन्न होने के बाद ही उत्पन्न हुए हैं, इसलिए यह सृष्टि किससे उत्पन्न हुई है उसे कौन जानता है।

''इस सारी सृष्टि की उत्पत्ति कैसे और कहाँ से हुई यह कोई नहीं जानता, क्योंकि इस रहस्य को जाननेवाले विद्वानों की उत्पत्ति भी बाद में हुई।''

''यह सृष्टि जिससे पैदा हुई वह उसे धारण करता भी है या नहीं, इसको वही विद्वान जानता है, जो परम आकाश में रहता हुआ इस सृष्टि का अध्यक्ष है अथवा सम्भवतः वह भी नहीं जानता हो।'' (मंडल 10, सुक्त 129)।

अथर्ववेद में, जिसकी रचना ऋग्वेद के काफी बाद हुई, जादू टोना, ओझा आदि सम्बन्धी काफी सामग्रियाँ हैं। इसके पीछे दो कारण थे, यूनानी प्रभाव और व्रात्य समुदाय से समझौताकर उसे आर्य समुदाय में समाहित करना।

इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के अनुसार, हमारे यहाँ फलित ज्योतिष दूसरी-तीसरी शताब्दी में यूनानी ग्रंथों से संस्कृत अनुवाद के जरिए आया। यह अनायास नहीं है कि भारतीय फलित ज्योतिष और यूनानी ज्योतिष की कार्य प्रणाली में साम्य है। आगे चलकर हमारे लोगों ने नक्षत्रों, भिन्न-भिन्न प्रकार की दशाओं और अन्तर्दशाओं, तथा जन्म कुंडली निर्माण विधि पर आधारित अष्टक वर्ग का समावेश कर उसे जटिलतर बना दिया।

भारत में यूनान तथा पश्चिम एशिया से ज्योतिष विद्या का आगमन मग ब्राह्मणों के जरिये हुआ। शाक्य द्वीपीय मग ब्राह्मण (जिन्हें भोजक भी कहते हैं) मूलतः शाक्य द्वीप (जो आधुनिक ईरान का भाग है) के पुरोहित थे। महान खगोलविद और ज्योतिषी वाराह मिहिर मग ब्राह्मण थे। कीथ के अनुसार, वाराह मिहिर की 'बृहत संहिता' के आने के बाद ज्योतिष की अन्य पुस्तकें अप्रासंगिक हो गयीं। वाराह मिहिर ने ज्योतिष को तीन भागों में बाँटा गणित, फलित और होरा। कालक्रम में फलित ज्योतिष का महत्त्व कृषि एवं व्यवसाय से जुड़ी अनिश्चताओं के कारण बढ़ गया। लोगों ने बुआई, कुओं की खुदाई, यात्रा, नये भवनों के शिलान्यास, मवेशी तथा हाथी-घोड़ों की खरीद-फरोख्त के लिए शुभ मुहुर्त तथा शादी-ब्याह एवं अन्य संस्कारों के लिए उचित दिन और घड़ी तय करने के लिए ज्योतिषी की राय जरूरी हो गयी।

आदिकाल से फलित ज्योतिष को लेकर हमारे देश में दो धाराएँ रही हैं। एक ओर अथर्ववेद की परम्परा है जिसमें हर प्रकार के काले जादू-टोना, अन्धविश्वास आदि को महिमामंडित किया गया है तो दूसरी ओर ऋग्वेद की परम्परा है जो मनु, यज्ञवल्कल्य, कौटिल्य अर्थशास्त्र, शुक्रनीति, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, गीता, नानक, कबीर आदि से होती हुई गाँधी तक आती है जो फलित ज्योतिष और सब प्रकार के काले जादू को अवैज्ञानिक मानती है। यह

परम्परा कर्म की भूमिका को रेखांकित करती है तथा मानवीय प्रयास को भाग्य के मुकाबले तरजीह देती है।

मनु जिनके प्रति कई लोग पूर्वग्रह से ग्रस्त हैं, नवजात शिशु की जन्मकुंडली बनाने को लेकर ज्योतिषी की बात नहीं करते और न ही राजा को निर्णय लेने से पहले ज्योतिषी की राय लेने को कहते हैं। मनुस्मृति में शादी-ब्याह के शुभलग्न सुझाने तथा वर-वधू की जन्मपत्रियों को मिलाने के लिए ज्योतिषी के पास न जाने का सुझाव है।

नानक इस बात की सम्भावना से इनकार करते हैं कि सात दिनों में से कोई भी दिन अशुभ हो सकता है क्योंकि सातों दिन ईश्वर ने बनाये हैं इसलिए शुभ-अशुभ का प्रश्न ही नहीं उठता।

हमारे युग के सबसे बड़े क्रान्तिकारी महात्मा गाँधी ने ज्योतिषी को हमेशा ठुकराया। उन्होंने 'यंग इंडिया' (23 फरवरी 1928) में लिखा था-- ''मैं ज्योतिषी नहीं हूँ। मैं ज्योतिष विज्ञान के विषय में कुछ नहीं जानता। यदि यह विज्ञान है तो इसकी उपयोगिता सन्देहास्पद है, जो लोग ईश्वर में किसी भी प्रकार विश्वास रखते हैं उनको उनके हाल पर छोड़ दिया जाना चाहिए।'' इसी पत्रिका में उन्होंने 12 सितम्बर 1929 को लिखा- ''मेरे पास मृतात्माओं से कोई सन्देश नहीं आता। मेरे पास कोई आधार नहीं है कि मैं ऐसे सन्देशों की संभावना में अपना अविश्वास छोड़ दूँ। वैसे मैं इस प्रकार के सन्देशों के आदान-प्रदान के सख्त खिलाफ हूँ। वे बहुधा भ्रामक और कल्पनाजनित होते हैं। अगर थोड़ी देर के लिए मान भी लें कि यह सन्देश-व्यवहार सम्भव है तो वह माध्यम और मृतात्माओं, दोनों के लिए हानिकारक है। वह मृतात्मा विशेष की पृथ्वी की ओर आकर्षित कर उससे बाँध देता है जबकि प्रयास होना चाहिए कि वह पृथ्वी से अपने को मुक्तकर ऊपर उठती जाये।''

महात्मा ने इस प्रकार के सन्देशों को आदान प्रदान करनेवालों को पागल और कमजोर दिमाग वाला करार दिया। उनके अनुसार उनका ऐसा कोई भी मित्र नहीं है जो मृतात्माओं के साथ इस प्रकार का सन्देश-व्यवहार करता हो। उन्होंने सचेत किया कि कोई जरूरी नहीं है कि निराकार होने के कारण प्रेतात्मा विशुद्धतर हो। वस्तुतः वह अपने साथ अधिकतर ऐसी कमजोरियाँ लिए रहती हैं जिनसे वह पृथ्वी पर जीवित अवस्था में ग्रस्त होती हैं। इसलिए यह जरूरी नहीं है कि मृतात्मा द्वारा दी गयी सूचना अथवा सलाह सही हो।

आजकल अनेक लोग ज्योतिषियों, तांत्रिकों, स्वामियों, बाबाओं, देवियों और माताओं के पास मार्गदर्शन के लिए जा रहे हैं जिससे वे अपने जीवन को सुखी और समृद्ध बनायें और कठिनाइयों पर पार पा सकें। विपत्तियों से निजात पाने के लिए इनकी सलाह पर विशेष प्रकार के पोशाक और आभूषण धारण करने के साथ ही तरह-तरह के अनुष्ठान किये जाते हैं। इन गुरुओं की शरण में जानेवालों में धनवानों, पढ़े-लिखे और उच्च पदस्थ व्यक्तियों की अच्छी-खासी संख्या है। इसके अनेक कारण हैं। औपचारिक तौर पर शिक्षित होने के बावजूद अनेक लोग प्राकृतिक और सामाजिक घटनाओं को समझने में अक्षम होते हैं। अपनी अज्ञानता के कारण ही वे किसी अलौकिक शक्ति में विश्वास करने लगते हैं और फिर उसकी इच्छा, माया या लीला को आधार मानकर उनकी व्याख्या करते हैं। उदाहरण के लिए फ्रांस में चौदहवीं सदी में प्लेग फैला तो राजा फिलिप चतुर्थ ने अपने प्रमुख चिकित्सक से उसका कारण पूछा तो तत्काल उत्तर आया कि 30 मार्च 1345 को शनि, बृहस्पति और मंगल का संयोग हुआ और परिणामस्वरूप प्लेग फ्रांस और पड़ोसी देशों का विनाश करने आ पहुँची।

निष्कर्ष यह है कि घटनाक्रमों का तार्किक विश्लेषणकर उनके वास्तविक कारणों तक पहुँचने के बदले आदिम लोगों ने अपनी सीमित बुद्धि और ज्ञान के आधार पर उनकी व्याख्या प्रस्तुत की। मगर आज उन व्याख्याओं से चिपके रहना मूर्खता है।

उन्नीसवी सदी के दौरान स्टैनले जेवंस सहित कई अर्थशास्त्रियों ने माना कि व्यापार चक्र का आना-जाना सूर्य के धब्बे के आने-जाने से जुड़ा है। सैकड़ों वर्षों तक धूमकेतु के उदय को अनिष्ट का संकेत माना जाता रहा। कहा जाता है कि जब जूलियस सीजर की हत्या हुई तब धूमकेतु का उदय हुआ था। अनिष्ट की आशंका से जब पत्नी ने सीजर को सीनेट में जाने से रोकना चाहा तब उसने पलट कर कहा कि जब भिखमंगे मरते हैं तब तो कोई धूमकेतु उदित नहीं होता। इस प्रकार उसने अपनी पत्नी के तर्क में निहित दोष की ओर संकेत किया। हमारे ग्रंथों में 'यद् अनन्तर तद् कारणम' या 'पोस्ट हॉक एरगो प्राष्ठर हॉक' के तर्कदोष का उल्लेख है। कहने का मतलब है कि कोई घटना 'ब' (यहाँ मृत्यु) किसी अन्य घटना 'अ' (यहाँ धूमकेतु का उदय) के बाद होती है तो मात्र इसी आधार पर 'अ' को 'ब' का कारण नहीं माना जा सकता।

प्रो. जेडी बर्नाल ने लिखा है कि विज्ञान काफी हद तक लोक-चेतना से अलग-अलग हो गया है। लोग विज्ञान का इस्तेमाल उन मानव निर्मित तंत्रों और प्रक्रियाओं को समझने के लिए नहीं करते जो उनके जीवन को नियंत्रित करती है। आज लोग वैज्ञानिक ज्ञान का इस्तेमालकर आपदा-विपदाओं को समझकर उनका सामना करने के बदले ज्योतिष जैसे अन्धविश्वास के चंगुल से फँस जाते हैं। विज्ञान की औपचारिक शिक्षा मात्र के कोई व्यक्ति ज्योतिष जैसे अन्धविश्वास से मुक्त नहीं हो सकता। यह अनायास नहीं है कि संघ परिवार में वैज्ञानिक डिग्रियों से लैस जितने लोग हैं उतने अन्यत्र नहीं हैं। जरूरी है कि समग्र वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया जाय और हर घटना का तार्किक विवेचन कर निष्कर्ष निकाला जाय। अपने जीवन-कार्यों का संचालन दूर बैठे ग्रहों पर छोड़ सिर्फ उनकी अभ्यर्थना में लग जाना मनुष्यता का अपमान और आत्महीनता का द्योतक है।

हमारे स्वघोषित हिन्दुत्ववादियों को

हिन्दू दर्शन का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं है। हमारे यहाँ हर जीव ईश्वर का अंश माना जाता है। आत्मा-परमात्मा का अंश है और अन्ततः उसी में विलीन हो जाती है। चूँकि हिन्दू धर्म में मानव प्राणी ईश्वर के अंश है इसीलिए किसी बिचौलिए की कोई आवश्यकता नहीं होती। ईश्वर पिता समान है इसलिए अपने द्वारा निर्मित ग्रहों को मनुष्यों को परेशान करने की अनुमति कैसे दे सकता है?

यह दावा किया जाता है कि ज्योतिषी और महात्मा चमत्कार का दावा करते हैं। मगर चमत्कार के सारे दावे बोगस हैं। चमत्कार का अर्थ है कि प्रकृति के नियमों को पलट देना। वाल्टेयर के अनुसार, ''यदि पूर्णिमा को सूर्यग्रहण हो और यदि कोई मृत व्यक्ति दो मील अपने सिर को अपने हाथों में लेकर चले तो हम इसे ही चमत्कार कहेंगे।''

पृथ्वी से सबसे नजदीक शुक्र ग्रह है मगर वह भी चार करोड़ चार लाख किलोमीटर दूर है। किसी ने यह नहीं बतलाया कि वह अपना प्रभाव कैसे डालता है। यदि वह प्रभाव डालता भी है तो सब लोगों पर समान क्यों नहीं होता?

उन्नीसवीं सदी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रताप नारायण मिश्र के विरूद्ध जो मुहिम चलायी वह बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जारी रही, किन्तु आजादी के बाद वह समाप्तप्राय हो गयी। हिन्दी में हरिशंकर परसाई और शरद जोशी तथा मैथिली में प्रो. हरिमोहन झा ने ज्योतिष पर कड़ा प्रहार किया। क्या हमारे साहित्यकार एमिल जोला की 'लुर्द' जैसी कृति लिख कर अंधविश्वास पर चोट नहीं कर सकते?

(जून 2001 में *'हंस'* पत्रिका में छपे के लेख का संक्षिप्त रूप)

बोले बोल कुबोल

-शैलेन्द्र चौहान

देश की संसद और विधान सभाओं में हमारे जनप्रतिनिधि संयत और मर्यादित आचरण नहीं करते। राजनीतिक पार्टियाँ रणनीति बनाकर संसद और विधानसभा में हो-हल्ला करती हैं और कामकाज नहीं चलने देतीं। पार्टी नेतृत्व भी ऐसे नेताओं की चुनावी उपयोगिता देखता है, उनका आचरण नहीं। मसलन बड़बोले केन्द्रीय मंत्री गिरिराज सिंह बिहार के भूमिहारों के प्रभावशाली नेता हैं। आने वाले विधानसभा चुनाव में वे बहुत उपयोगी साबित हो सकते हैं। वहीं साध्वी निरंजन ज्योति भी साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की जरूरत पड़ने पर बहुत काम की सिद्ध होंगी। इसलिए नेतृत्व ऐसे तत्त्वों को अनुशासित करने की जगह शह देता है। यह प्रवृत्ति लगातार बढ़ रही है। भारत में लोकतंत्र के भविष्य के लिए यह शुभ संकेत नहीं है।

बिहार से भारतीय जनता पार्टी के सांसद और केन्द्रीय मंत्री गिरिराज सिंह जब कहते हैं कि अगर राजीव गाँधी गोरी चमड़ीवाली सोनिया गाँधी के बजाय काली चमड़ीवाली किसी नाइजीरियन महिला से शादी करते तो भी क्या कांग्रेस पार्टी उस महिला को अपना नेता स्वीकार करती? गिरिराज सिंह के कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गाँधी के खिलाफ रंगभेदी बयान पर नाराजगी तो जताई जा सकती है लेकिन यह कोई हैरत की बात नहीं है। गत वर्ष लोकसभा चुनाव के दौरान हाजीपुर में एक चुनाव सभा को सम्बोधित करते हुए सिंह ने एक बयान दिया था कि नरेंद्र मोदी के विरोधियों के लिए भारत में कोई जगह नहीं है और उन्हें पाकिस्तान चले जाना चाहिए। तब मंच पर पार्टी के पूर्व अध्यक्ष नितिन गडकरी भी बैठे थे। लेकिन गडकरी ने उनके बयान की आलोचना में एक शब्द भी नहीं कहा। आश्चर्य की बात यह है कि पार्टी नेतृत्व ने कभी भी इस तरह के बयानों की खुलकर आलोचना नहीं की। अब इस नये बयान पर पार्टी सूत्रों के हवाले से ही खबर है कि पार्टी अध्यक्ष अमित शाह ने गिरिराज सिंह से फोन पर कहा है कि वह अपने बयान के लिए खेद प्रकट करें लेकिन पार्टी की ओर से स्पष्टतः उनकी कोई आलोचना या निन्दा नहीं की गयी। पिछले साल भी मीडिया में पार्टी सूत्रों के हवाले से खबर आयी थी कि पार्टी अध्यक्ष राजनाथ सिंह ने फोन पर गिरिराज सिंह को ऐसे बयान न देने के लिए कहा है। लेकिन गिरिराज सिंह पर इस समझाइस का असर नहीं हुआ। असलियत तो यह है कि भाजपा ने ऐसे नेताओं को दंडित करने के बजाय पुरस्कृत ही किया है। लोकसभा चुनाव के बाद गिरिराज सिंह को केन्द्रीय मंत्रिपरिषद में शामिल करके उन्हें इसका पुरस्कार दिया गया।

पहली बार केन्द्र में मंत्री बने गिरिराज ने केजरीवाल की तुलना राक्षस मारीच से कर दी और प्रधानमंत्री को राम कहा। दिल्ली विधानसभा चुनाव से पहले एक और केन्द्रीय मंत्री साध्वी निरंजन ज्योति का रामजादा वाला बयान काफी विवादित हुआ था। लेकिन इस बयान के बाद भी उनके खिलाफ किसी किस्म की कार्रवाई नहीं हुई। कुछ दिनों पहले बीजेपी नेता और सांसद साक्षी महाराज ने अपने एक विवादित बयान में कहा था कि हर हिन्दू चार सन्तान पैदा करे। विपक्ष ने इन बयानों को बड़ा मुद्दा बनाकर संसद में जोरदार हंगामा किया। यहाँ तक कि इन बयानों को लेकर प्रधानमंत्री की चुप्पी पर भी सवाल खड़े कर दिये गये। भाजपा नेताओं को अपने बयानों को लेकर संसद में माफी माँगनी पड़ी। लेकिन यह सिलसिला रुका नहीं, भाजपा के आनुषंगिक संगठनों के नेता इसे और हवा देते रहे। विश्व हिन्दू

परिषद (वीएचपी) की नेता साध्वी प्राची द्वारा गत एक फरवरी को बदायूँ में आयोजित हिन्दू सम्मेलन में दिए गये बयान में कहा गया कि हिन्दू महिलाओं को अधिक बच्चे पैदा करना चाहिए। प्राची ने कहा कि एक बच्चे से देश की रक्षा नहीं हो सकती है, इसलिए चार बच्चे पैदा करो। एक ही क्यों कम से कम चार बच्चे पैदा करें। प्राची ने कहा कि हम कहते हैं कि हम दो हमारे दो, लेकिन भाइयों और बहनों अब हमें चार-चार बच्चे चाहिए। कहा जाता है कि शेर का एक बच्चा-यह जो बात कही जा रही है वह गलत है। शेर के एक बच्चे को हम सीमा पर लड़ने के लिए भेज देंगे तो क्या होगा? पाकिस्तान वहाँ पर खून-खराबा कर रहा है, इसलिए चार-चार बच्चे पैदा करो। उन्होंने कहा कि एक बच्चे को देश की सीमा की रक्षा के लिए बॉर्डर पर भेजो। एक बच्चे को सन्तों को सौंप दो, एक बच्चे को समाज के लिए दो जोकि समाज के काम आये और एक बच्चे को संस्कृति की रक्षा करने के लिए वीएचपी को दे दो। उन्होंने कहा कि सरकार तो अच्छी बन गयी लेकिन परिवर्तन होना चाहिए। परिवर्तन सरकारों से नहीं संस्कारों से होगा।

गिरिराज किशोर और प्रवीण तोगड़िया को तो इस तरह के बयानों में पूरी महारत हाशिल है ही। हाल ही में वीएचपी नेता तोगड़िया ने गुजरात के भावनगर में यह बयान दिया कि भारत में रहनेवाले तमाम मुस्लिम और ईसाई हिन्दुओं के वंशज हैं। विश्व हिन्दू परिषद के शीर्ष नेता प्रवीण तोगड़िया वर्षों से मुस्लिम-विरोधी भड़काऊ बयान दे रहे हैं। लेकिन किसी पर भी अंकुश लगाने की कहीं कोई कोशिश नजर आती नहीं दिखती। साधु-साध्वियाँ जिन्हें हिन्दू मान्यताओं, ग्रंथों और पारम्परिक भावनाओं के अनुसार यह समझा जाता था कि वे माया-मोह और लोभ-लाभ से दूर रहकर भौतिक सुख-सुविधाओं का परित्याग कर संसारी जनों को अपने कर्म सुधारने को प्रेरित किया करते थे, अब स्वयं बेहद संसारी और सत्ता प्रेमी हो चुके हैं। इसीलिए इलाहाबाद में माघ मेले में शिरकत कर रहे उत्तराखंड के बद्रिकाश्रम के शंकराचार्य वासुदेवानंद सरस्वती ने कहा है कि नरेन्द्र मोदी को फिर से प्रधानमंत्री बनाने के लिए हिन्दुओं को दस-दस बच्चे पैदा करने चाहिए। उन्होंने कहा कि हिन्दुओं की एकता की वजह से ही मोदी प्रधानमंत्री बने हैं। वह आनेवाले समय में भी बहुमत में रहें, इसके लिए हिन्दू परिवारों को 10 बच्चे पैदा करने होंगे। बयानों के इस दौर में भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) सांसद सुब्रमण्यम स्वामी कैसे पीछे रहते। सुब्रमण्यम स्वामी ने बयान दिया कि मस्जिद धार्मिक स्थल नहीं है सिर्फ इमारत है, इसलिए उसे कभी भी तोड़ा जा सकता है। उन्होंने यह भी कहा, सभी भारतीय मुसलमान पहले हिन्दू थे। भाजपा नेता सुब्रमण्यम स्वामी ने गुवाहाटी में शुक्रवार को एक कार्यक्रम के दौरान यह बात कही। सुब्रमण्यम स्वामी ने अपने बयान के पक्ष में तर्क देते हुए सऊदी अरब का एक उदाहरण पेश किया। उन्होंने कहा कि वहाँ सड़कें बनाने के लिए मस्जिदों को तोड़ा जाता है। इसके साथ ही उन्होंने कहा, अगर कोई मेरे राय से इत्तेतफाक नहीं रखता, तो मैं इस मुद्दे पर उसके साथ बहस करने को तैयार हूँ।

खैर साम्प्रदायिक राजनीति तो भाजपा की रगों में दौड़ती है लेकिन अब सुनिए कुछ स्वास्थ्य सम्बन्धी उपदेश। इलाहाबाद से बीजेपी सांसद श्याम चरण गुप्ता ने तम्बाकू से कैंसर के बारे में कहा, 'मैं आपके सामने ऐसे कई लोगों को पेश कर सकता हूँ, जो खूब बीड़ी पीते हैं और उन्हें अब तक कोई बीमारी नहीं हुई, कैंसर भी नहीं हुआ।' उन्होंने यह भी कह दिया कि चीनी, चावल, आलू खाने से आपको डायबिटीज हो जाती है, तो इन सारी चीजों के लिए भी आप चेतावनी क्यों नहीं लिखते? इससे पहले दिलीप गाँधी ने कहा था कि तम्बाकू से कैंसर होने सम्बन्धी सभी अध्ययन विदेशों में हुए हैं और किसी को भारतीय परिप्रेक्ष्य को भी ध्यान में रखना चाहिए। गाँधी ने कहा, 'तम्बाकू के हानिकारक प्रभावों पर सभी एकमत हैं। यह साबित करने वाली कोई भारतीय रिसर्च नहीं है कि तम्बाकू के सेवन से कैंसर होता है। कैंसर सिर्फ तम्बाकू के कारण नहीं होता है। अब दिलीप गाँधी का एक और जानकारी भरा बयान सामने आया। एक टीवी चौनल की खबर के मुताबिक, गाँधी ने बयान दिया कि तम्बाकू असल में हाजमे में मददगार होता है। ध्यातव्य है गाँधी तम्बाकू और अन्य तम्बाकू उत्पाद अधिनियम, 2003' के प्रावधानों के परीक्षण के लिए गठित एक संसदीय समिति के प्रमुख हैं।

ऐसा नहीं है कि विवादित बयान सिर्फ भाजपाई और उनके सहयोगी ही देते हैं उनके अलावा कांग्रेस, सपा, जदयू, बसपा, तृणमूल कांग्रेस सभी दलों के नेता अनाप-शनाप बोलते रहते हैं। दूसरी पार्टियों का हाल भी बहुत बेहतर नहीं है। पिछले वर्ष लोकसभा चुनाव के दौरान कांग्रेस उम्मीदवार इमरान मसूद ने उत्तर प्रदेश के सहारनपुर में एक जनसभा को सम्बोधित करते हुए प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार नरेन्द्र मोदी को धमकी दी थी। उन्होंने कहा था कि यदि उन्होंने या उनके साथियों ने वहाँ दंगे भड़काये तो वह उनकी 'बोटी-बोटी कर देंगे'। हैदराबाद के ओबैसी बंधू और समाजवादी पार्टी के नेता आजम खान और अबू आजमी भी भड़काऊ और विवादास्पद बयान देने के लिए कुख्यात हैं। पश्चिम बंगाल में तृणमूल कांग्रेस के एक नेता ने अपने समर्थकों से मार्क्सवादियों के बारे में एक बेहद उत्तेजक बयान दिया था। अभी कुछ ही दिनों पहले जदयू के वरिष्ठ नेता शरद यादव ने पहले दक्षिण भारतीय महिलाओं के शरीर सौष्ठव पर अपनी राय पेश की, आश्चर्य यह कि इस पर सभी सांसद मुस्करा रहे थे। फिर उन्होंने भाजपा की महिला मंत्री स्मृति ईरानी के विषय में आपत्तिजनक टिप्पणी कर डाली, कुछ दिनों हो हल्ला हुआ और मामला धीरे-धीरे शान्त हो गया। ये नेता यहीं नहीं रुकते हैं, बलात्कार जैसे संवेदनशील मुद्दों पर भी ये अपनी

गैरजिम्मेदार टिप्पणियाँ करने से बाज नहीं आते। कुछ समय पूर्व हरियाणा में गैंगरेप की बढ़ती वारदातों पर कांग्रेस के प्रदेश प्रवक्ता ने एक बेहद विवादित और गैर जिम्मेंदाराना बयान दे डाला उन्होंने कह दिया कि 90 फीसदी लड़कियाँ सहमति से शारीरिक सम्बन्ध बनाती हैं। जब लड़कियाँ किसी के साथ जाती हैं तो उन्हें मालूम नहीं होता कि वह गैंगरेप की शिकार हो जायेंगी। भाजपा के वरिष्ठ नेता मुरली मनोहर जोशी ने बलात्कार जैसी घटनाओं के लिए पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव और विदेशी सोच को जिम्मेदार ठहरा दिया था। उन्होंने कहा कि रेप 'इंडिया' में होते हैं 'भारत' में नहीं। इससे पहले भी कई बड़े लोग दिल्ली गैंगरेप और महिलाओं से जुड़े संवेदनशील मसलों पर बेतुके और विवादित बयान दे चुके हैं। विश्व हिन्दू परिषद के अन्तरराष्ट्रीय सलाहकार अशोक सिंघल ने बयान में कहा था कि महिलाओं का पाश्चात्य रहन-सहन दुष्कर्म सहित हर तरह के यौन उत्पीड़न के लिए जिम्मेदार है। मध्य प्रदेश में भाजपा के मंत्री कैलाश विजयवर्गीय तो और एक कदम आगे निकले। उन्होंने रामायण का उदाहरण देते हुए कहा कि सीताजी (महिलाएँ) ने लक्ष्मण रेखा पार की, तो रावण उनका हरण कर लेगा। इसलिए महिलाओं को अपनी मर्यादा के भीतर ही रहना चाहिए। राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी के पुत्र और सांसद अभिजीत मुखर्जी ने दिल्ली गैंगरेप के विरोध में हो रहे विरोध प्रदर्शन पर कहा था कि बलात्कार के खिलाफ विरोध-प्रदर्शन करनेवाली महिलाएं डिस्को में जाने वाली होती है। जिन्हें हकीकत मालूम नहीं होती, वह केवल कैंडल मार्च पर उतर आती है। हालाँकि बाद में राष्ट्रपति की पुत्री शर्मिष्ठा मुखर्जी ने अपने भाई के बयान पर असहमति जताते हुए कहा था कि यह बयान महिलाओं का अपमान है और उन्हें तुरन्त ये वापस लेना चाहिए।

एक नाबालिग लड़की का यौन शोषण करनेवाले दुराचारी बाबा आसाराम ने कहा था कि अकेली महिला रात को घर से निकलती है तो उसे भाई को साथ लेकर निकलना चाहिए। आसाराम ने कथित रूप से टिप्पणी की कि पीड़िता को आरोपियों को 'भाई' कहकर सम्बोधित करना चाहिए था। उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि अगर हिम्मत नहीं थी आत्मसमर्पण क्यों नहीं कर दिया। सार्वजनिक संवाद का यह स्तर और राजनीतिक पार्टियों की चुप्पी भारतीय लोकतंत्र में आयी गिरावट का सबूत है। प्रधानमंत्री और भाजपा अध्यक्ष अपनी इस फिक्र का जिक्र तो करते हैं लेकिन कोई प्रभावी कार्रवाई नहीं। यह जनमानस में सन्देह पैदा करता है। क्या वास्तव में वे इसके लिए प्रतिबद्ध हैं? अब तक ऐसा लगता तो कतई नहीं है। शायद हाथी के दाँत खाने के और व दिखाने के और हैं। जनमानस निराश है, उद्वेलित है। वह कानूनविदों को आदर्श के रूप में देखता है। इन कर्मों का उसके ऊपर एक नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। ऐसे विवादित और अमर्यादित बयानों पर रोक लगाने के लिए देश के कानूनविदों, बुद्धजीवियों, विधि आयोग समेत सभी दलों को इस बात पर गम्भीरता से चिन्तन करने की आवश्यकता है। वर्ना ऐसे बयानों की अटूट श्रृंखला यूँ ही चलती रहेगी और इससे उपजे तू-तू मैं-मैं से देश का विकास कैसे होगा यह तो मोदी जी ही बतायेंगे लेकिन यह तय है, कि इससे सामाजिक ताना-बाना कमजोर होगा, आपसी विद्वेष बढ़ेगा और पूरे विश्व में जहाँ वह भारत की मजबूती का परिचय देने की कोशिश कर रहे हैं वहीं इन गैर जिम्मेदार बयानों से देश की छवि अवश्य धूमिल होती जा रही है।

कैसी विडम्बना है कि जो लोग भारत को विश्वगुरु बनाने के लिए व्यग्र हैं, उनके मुँह से अक्सर अश्लील, असभ्य और दुर्भावनापूर्ण बयान ही निकलते हैं। क्या कुबोल बोलना ही भारतीय संस्कृति है?

...पृष्ठ 51 का शेष

हुआ मनुष्य भगवत प्राप्ति रूप परमसिद्धी को प्राप्त होता है" (वही 18:45) और इस प्रकार इन वर्णों के भाग्य पर सीधे भगवान की मोहर लगा दी गयी है।

प्राचीन हिन्दुओं की धार्मिक सोच और चिन्तन को समझने के लिए गीता का अध्ययन किये जाने में कोई समस्या नहीं है; समस्या तो सीधे-सीधे उसी में कही गयी बात के मुताबिक गीता को एक ऐसे मार्गदर्शक के तौर पर देखने में है जिस पर कोई प्रश्न ही न किया जा सके-- "तेरे लिए इस कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र (ही) प्रमाण है, ऐसा जान कर (तू) शास्त्रविधि से नियत किये हुए कर्म को (ही) करने के लिए योग्य है" (वही, 16:24)।

तो हरियाणा की स्कूली पाठ्यचर्या में गीता को शामिल करने सम्बन्धी कई समस्याएँ हैं। एक धर्म को दूसरे के मुकाबले तरजीह देना, स्पष्ट तौर पर दिखाई देता मतारोपण और धर्मोपदेश, शिक्षाशास्त्र सम्बन्धी कठिनाइयाँ और वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त के माध्यम से जातिवाद का आलोचना रहित उपदेश इन्हीं में से कुछ समस्याएँ हैं।

इसलिए गीता का पाठ्यचर्या में शामिल किया जाना निश्चित तौर पर मौजूदा शिक्षा नीति और देश की धर्मनिरपेक्ष प्रकृति और स्वरूप के विरुद्ध जाता निर्णय है।

मालूम होता है कि यह निर्णय उच्च जाति के हिन्दुओं के एक हिस्से द्वारा प्रभुत्व की इच्छा से प्ररित है इसे राजस्थान के स्कूलों में सूर्य-नमस्कार को अनिवार्य कर दिये जाने और महाराष्ट्र में गोमांस के उपभोग पर रोक लगाये जाने जैसे निर्णयों के साथ जोड़कर देखा जाय तो नतीजा यही निकलता है। दुर्भाग्य से इन निर्णयों के विरुद्ध समाज के किसी भी तबके द्वारा कोई विशेष आवाज उठती नहीं सुनाई दे रही।

(अंग्रेजी दैनिक द हिन्दू में छपे रोहित धनकर के लेख का डॉ. रमणीक मोहन द्वारा अनुवाद। आभार- पत्रकार प्रैक्सिस)

गीता पढ़ाने का मतलब

-रोहित धनकर

15 मार्च को, समाचार-पत्रों में आये हरियाणा के मुख्यमंत्री मनोहर लाल खट्टर के बयान के मुताबिक नये अकादमिक सत्र से हरियाणा के स्कूलों में भगवद गीता से श्लोक पढ़ाये जायेंगे।

इससे पहले फरवरी 2015 में यह ख़बर आयी थी कि दीनानाथ बत्रा की अगुवाई में गठित हरियाणा सरकार की शिक्षा सलाहकार समिति ने राज्य की शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद को प्रेरित किया है कि वह स्कूली पाठ्यचर्या में शामिल किये जाने के लिए भगवद गीता से कुछ श्लोक सुझाये।

इसे अन्य कई घटनाओं की रौशनी में देखा जाय तो यह हैरत में डालनेवाली बात नहीं है।

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी द्वारा अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर राज्याध्यक्षों को गीता भेंट किया जाना, सुषमा स्वराज द्वारा माँग किया जाना कि गीता को "राष्ट्रीय ग्रंथ" घोषित किया जाय, और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से जुड़े रहे दीनानाथ बत्रा को हरियाणा सरकार द्वारा राज्य की शिक्षा सलाहकार समिति का अध्यक्ष बनाया जाना ऐसी ही कुछ घटनाएँ हैं।

ये सब बातें भारतीय जनता पार्टी की विचारधारा से मेल खाती हैं। लेकिन क्या ये हमारे संविधान में स्थापित धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त के अनुरूप भी हैं? और इतना ही महत्त्वपूर्ण है यह सवाल कि क्या ये हमारे देश की शिक्षा नीति के अनुरूप हैं?

हमारे देश की वर्तमान शिक्षा नीति 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति है (जिस में 1992 में कुछ फेर-बदल किये गये थे)। इस में चिन्ता व्यक्त की गयी है कि "आज समाजवाद, धर्म निरपेक्षता, लोकतंत्र तथा व्यावसायिक नैतिकता के लक्ष्यों की प्राप्ति में लगातार बाधाएँ आ रही हैं" (राष्ट्रीय शिक्षा नीति-86, 1.11)। यह भी कहा गया है कि "शिक्षा'' हमारी संवेदनशीलता और दृष्टि को प्रखर करती है, जिस से राष्ट्रीय एकता पनपती है, वैज्ञानिक तरीके के अमल की सम्भावना बढ़ती है और समझ और चिन्तन में स्वतंत्रता आती है।

साथ ही शिक्षा हमारे संविधान में प्रतिष्ठित समाजवाद, धर्म-निरपेक्षता और लोकतन्त्र के लक्ष्यों की प्राप्ति में अग्रसर होने में हमारी सहायता करती है" (वही, 2. 2)। इस नीति में घोषणा की गयी है कि "राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था पूरे देश के लिए एक राष्ट्रीय शिक्षाक्रम के ढाँचे पर आधारित होगी" जिस के तहत "राष्ट्रीय मूल्यों को हर इनसान की सोच और जिन्दगी का हिस्सा बनाने की कोशिश की जायेगी।

इन राष्ट्रीय मूल्यों में ये बातें शामिल हैं-- हमारी समान सांस्कृतिक धरोहर, लोकतंत्र, धर्म निरपेक्षता, स्त्री-पुरुषों के बीच समानता, पर्यावरण का संरक्षण, सामाजिक समता। और वैज्ञानिक तरीके के अमल की जरूरत। सभी शैक्षिक कार्यक्रम *धर्म-निरपेक्षता के मूल्यों के अनुरूप ही आयोजित हों* " (वही, 3.4, इटालिक हमारा)।

ये उद्धरण किसी शक की गुंजाइश छोड़े बिना पूरी तरह से स्पष्ट करते हैं कि मौजूदा राष्ट्रीय शिक्षा नीति समता, धर्मनिरपेक्षता, लोकतंत्र और वैज्ञानिक मानसिकता के लिए प्रतिबद्ध है। इस का आशय है कि सभी शैक्षिक कार्यक्रम धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के साथ कड़ाई से सामंजस्य बैठाते हुए चलें।

क्या भगवद गीता के श्लोकों को स्कूली पाठ्यचर्या में शामिल करने का हरियाणा सरकार का निर्णय इन मूल्यों के सामंजस्य में है?

धर्मनिरपेक्षता का विचार

सही अर्थों में कहें तो धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त राज्य की नीतियों, उनके क्रियान्वयन तथा निर्णय लेने में धर्म और धार्मिक सरोकारों को नकारता है। धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त धर्म को राज्य के निर्णयों और क्रियाकलापों से बाहर रखने का सिद्धान्त है। लेकिन हम ने धर्मनिरपेक्षता को 'सर्वधर्म समभाव' के रूप में व्याख्यायित किया है, जिस के तहत राज्य सभी धर्मों को बराबर का आदर देने की बात करता है।

इस प्रकार की व्याख्या का उपयोग यह दलील देने के लिए किया जा सकता है कि भगवद गीता के कुछ चुने हुए श्लोकों को अनिवार्य रूप से पढ़ाना धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं करता। लेकिन यह व्याख्या आन्तरिक तौर पर असंगत है।

इस के कुछ निहितार्थ भी हैं, जिन्हें लागू करना लगभग असम्भव है। मगर इन अन्तर्विरोधों को अनदेखा कर दिया जाय, तो भी समानता के सिद्धान्त और 'सर्वधर्म समभाव' का तकाजा है कि केवल एक धर्मग्रंथ के अंशों को पाठ्यचर्या में शामिल करने के लिए नहीं चुना जा सकता।

अगर हम इस बात को ठीक मानते हैं तो भारतीय नागरिकों द्वारा माने जानेवाले सभी धर्मों (बौद्ध, जैन, सिख, इस्लाम, ईसाई,

यहूदी, पारसी) के ग्रंथों से अंश पाठ्यचर्या में शामिल होने होंगे।

ऐसा न करने या इन्हें न स्वीकारने का अर्थ होगा 'सर्वधर्म समभाव' को भी राज्य की नीति और व्यवहार के सिद्धान्त के तौर पर नकारना।

अब तक गीता के अलावा किसी अन्य धर्म-ग्रंथ को पाठ्यचर्या में शामिल करने का निर्णय नहीं लिया गया है। इसलिए गीता को ही शामिल करने की योजना निश्चित तौर पर साम्प्रदायिक है और शिक्षा-नीति के विरुद्ध जाती है।

स्वतंत्र सोच आलोचनात्मक तर्कशीलता से ही विकसित हो सकती है, जिसका तकाजा है कि सब धारणाओं को स्वीकार किये जाने से पहले तार्किक आधार पर उनका परीक्षण हो। यदि धारणाएँ ऐसी हैं जो किसी के व्यक्तिगत, निजी जीवन से आगे जा कर समाज को प्रभावित कर सकती हैं, तो यह आलोचनात्मक परीक्षण सार्वजनिक होना होगा इसलिए कि इन धारणाओं से सब प्रभावित होंगे।

यानी कि गीता या कोई भी अन्य धर्म-ग्रंथ यदि पाठ्यचर्या में शामिल किया जाना है तो उसे अन्य वैज्ञानिक, राजनीतिक और सामाजिक सिद्धान्तों तथा विचारधाराओं की तरह आलोचनात्मक परीक्षण में से हो कर गुजरना होगा।

राज्य यह दलील तो दे ही सकता है कि गीता से केवल वे श्लोक चुने जायेंगे जो नैतिक मूल्यों के तौर पर स्वीकार्य हैं और जिन्हें विवेक के आधार पर जायज ठहराया जा सकता है।

लेकिन नैतिक मूल्य तो सब धर्म ग्रंथों में होते हैं, जिन्हें विशेष तौर से चुन कर इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है कि ये मानवता के लिए अच्छे हैं। और कुछ मूल्यों को विशेष तौर से चुनने की प्रक्रिया धर्म-ग्रंथों के चरित्र और दर्शन को समग्रता के साथ समझने में कोई मदद नहीं करती।

इसका नतीजा केवल यह होगा कि बच्चे सम्बद्ध ग्रंथ को समग्रता और व्यापकता में समझे बिना धर्मोपदेश ले रहे होंगे-- दूसरे शब्दों में एक धर्म का मतारोपण उन पर हो रहा होगा। यही वह शिक्षा है जो कट्टरता और धर्मान्धता के लिए धरती तैयार करती है।

आलोचनात्मक पठन की आवश्यकता

गीता से स्वीकार्य सबक सीखने और धर्मोपदेश तथा मतारोपण से बचने का एक ही तरीका है-- आलोचनात्मक पठन का तरीका, जिसके तहत मूल्यों और उन के औचित्यों का जम कर परीक्षण हो। उदाहरण के लिए हम कुछ बहुत ही सराहनीय अच्छाइयों की एक सूची लेते हैं-- "श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव, दम्भाचरण का अभाव, अहिंसा, क्षमाभाव, मन वाणी की सरलता, श्रद्धाभक्ति सहित गुरु की सेवा, बाहर-भीतर की शुद्धि, अन्तःकरण की स्थिरता, मन और इन्द्रियों सहित शरीर का निग्रह" (भगवद गीता, 13:7)।

यदि हम चाहते हैं कि बच्चे इन अच्छाइयों को समझें-सराहें, तो उन्हें यह भी जानना-समझना चाहिए कि इन्हें स्वीकार करने योग्य मानने के पीछे के कारण क्या हैं।

गीता द्वारा प्रदान किया गया तर्क इस ब्रह्माण्ड, मानव तथा मानव-कर्मों के सिद्धान्तों और इन के बारे में एक विशेष समझ से निकलता है, जिसका आधार आत्मा को अमर माने जाने में है; और इस के लिए पुरातन पदार्थ (प्रकृति), प्रकृति के तीन गुणों, आत्मा के बन्धन, ब्रह्म इत्यादि को भी स्वीकार करना होगा।

जहाँ तक गीता का सम्बन्ध है, इन अवधारणाओं की स्पष्ट व्याख्या किये बिना इन अच्छाइयों को स्वीकार करने के लिए किसी भी तर्क का निर्माण नहीं किया जा सकता।

लेकिन इन अवधारणाओं को स्वीकारने में कम से कम तीन गम्भीर समस्याएँ हैं। एक तो ये दलीलें इतनी सूक्ष्म और जटिल हैं कि 16-17 साल से कम उम्र के बच्चे इन्हें बिल्कुल भी नहीं समझ पायेंगे।

गीता के माध्यम से इन मूल्यों का ज्ञान कक्षा-11 से पहले दिया जाता है तो उसे मतारोपण ही कहना उपयुक्त है, और दो-- ब्रह्माण्ड की अवधारणात्मक व्यवस्था के लिए प्रस्तुत दलीलें विश्वास पर टिकी हैं; इस व्यवस्था को स्वीकारने के लिए कोई ठोस, तार्किक दलील नहीं है।

इसलिए इसे बस एक ऐसे सिद्धान्त के रूप में ही पढ़ाया जा सकता है जिस पर कुछ लोगों का विश्वास है। इसे 'सत्य' के रूप में नहीं पढ़ाया जा सकता। हमारे स्कूलों में यह हो पाना बहुत ही मुश्किल होगा।

तीन-ब्रह्माण्ड की यही अवधारणात्मक व्यवस्था समाज की वर्ण-संरचना को सही ठहराने के लिए और यह दलील देने के लिए भी उपयोग में लायी जाती है कि लोगों को उन के वर्ण के मुताबिक तय किये गये कर्तव्य निभाने चाहिए।

कृष्ण कहते हैं कि वे "चतुरवर्ण व्यवस्था का सृष्टा" हैं (वही, 4:13)। इस संरचना के तहत "स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र" को "पापयोनि" से जन्मा घोषित किया जाता है (वही- 9:32)।

इन वर्णों की मनोवृत्तियाँ और कार्य तय कर दिए गये हैं। माना गया है कि "अन्तःकरण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, बाहर-भीतर की शुद्धि, धर्म के लिए कष्ट सहन करना, क्षमाभाव, मन इन्द्रियाँ और शरीर की सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्रविषयक ज्ञान और परमात्म-तत्त्व का अनुभव ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण हैं"(वही, 18:42)। "शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध में भी न भागने का स्वभाव एवं दान और स्वामीभाव क्षत्रीय के स्वाभाविक कर्म हैं" (वही 18:43)।

"खेती, गौपालन और क्रय-विक्रय रूप सत्य व्यवहार वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं (और) सब वर्णों की सेवा करना शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म है"(वही 18:44)। और फिर आप को बताया जाता है कि "अपने-अपने (स्वाभाविक) कर्म में लगा

शेष पृष्ठ 49 पर...

यमन यूद्ध : ईरान के खिलाफ नये मोर्चे की शुरुआत

–अमरपाल

यमन में होयूथी आन्दोलनकारियों द्वारा राजधानी साना पर कब्जा जमा लेने से अमरीका और सउदी अरब की चिन्ताएँ बहुत बढ़ गयी हैं। हाउदी अपने सहयोगियों के साथ राजधानी में है और अमरीकी पिट्ठू यमनी राष्ट्रपति मंसूर-अल-हादी देश छोड़कर भाग चुके हैं।

यमन युद्ध और अल-हादी की सत्ता से बेदखली यमन में किसी हाउदी तख्तापलट का नतीजा नहीं है। इसके विपरीत अल-हादी को इसलिए भागना पड़ा क्योंकि वह पहले तय हुए सत्ता में हिस्सेदारी के समझौतों को कुड़े में फेंककर अमरीकी और सउदी मदद से यमन में निरंकुश शासन की वापसी चाहता था। अल-हादी अमरीका और सउदी राज-घराने के साथ मिलकर हाउदियों को परास्त करना चाहता था। इसकी हाउदियों द्वारा की गयी अप्रत्याशित प्रतिक्रिया ने अल-हादी को सत्ता से खदेड़ दिया।

यमन की अधिकांश जनता एकजुट है और हाउदियों व उनके सहयोगियों के समर्थन में है। अल-हादी 2011 में राष्ट्रपति बनने के बाद से ही *यमन नेशनल डायलॉग* में तय सत्ता में साझेदारी की बातों का पालन नहीं कर रहा था। इसके विपरीत अमरीका और सउदी अरब के आर्शीवाद से एक निरंकुश शासन की स्थापना करना चाहता था। यमन की जनता उसके बहुत खिलाफ हो चुकी थी। यहाँ तक कि 8 नवम्बर को अल-हादी की पार्टी येमनाइट जनरल पीपुल्स कॉंग्रेस ने उसे अपना नेता मानने से इनकार कर दिया।

20 जनवरी को जनता के भारी समर्थन से होयूथियों ने राष्ट्रपति भवन और अधिकांश सरकारी इमारतों पर ताला जड़ दिया। 6 फरवरी को संक्रमणकालीन सरकार बनायी गयी और अल-हादी को इस्तीफा देने के लिए कहा गया और उसने राष्ट्रपति पद से इस्तीफा दे दिया।

अल-हादी के इस्तीफे से अमरीकी विदेश नीति और यमन में काम कर रही सीआईए और पेंटागन की सैन्य व कार्यकारी नीतियों को भारी झटका लगा। 25 मार्च को लॉस एन्जिल्स टाइम्स ने अमरीकी अधिकारियों की आलोचना की और रिपोर्ट दी कि सीआईए के साथ मिलकर काम कर रहे यमनी राष्ट्रीय सुरक्षा ब्यूरो की इमारत पर कब्जे से हाउदियों के हाथ ऐसे बहुत से दस्तावेज लगे हैं जिनमें यमन में अमरीकी कार्रवाईयों से सम्बन्धित समझौते थे।

21 फरवरी को अल-हादी साना से भागकर अदन चला गया और 7 मार्च को अदन को नयी राजधानी और खुद को फिर से राष्ट्रपति घोषित कर दिया। अमरीका, फ्रांस, तुर्की, सउदी अरब, बहरीन, कुवैत जैसे राष्ट्रों ने अल-हादी के समर्थन में अपने दूतावास अदन स्थानान्तरित कर लिये।

हाउदियों और उनके सहयोगियों के लिए अल-हादी के मुँह से अमरीकी और सउदी प्रस्ताव आने लगे। लेकिन उन्होंने किसी भी प्रस्ताव को स्वीकार करने से मना कर दिया। 23 मार्च को यमन पर हमले की सहमति बनाने के लिए सउदी राज-घराने ने अरब के पेट्रो-शेख घरानों से मुलाकात की। हमले की आशंका में हाउदियों ने यमन के सैन्य ठिकानों और शहरों को कब्जे में लेना शुरू किया। 25 मार्च को अदन पर भी हाउदियों का नियंत्रण हो गया और अल-हादी पहले सउदी और फिर यमन पर हमले के लिए अरब लीग की मीटिंग में शामिल होने मिस्र भाग गया। 26 मार्च को सउदी अरब ने यमन पर हमला कर दिया।

साना पर हाउदियों का नियंत्रण महज एशिया में अमरीका विरोधियों- ईरान, सीरिया, हिजबुल्ला और दूसरे स्थानीय सहयोगियों की बढ़त थी। इसी के साथ सीरिया अपने इलाकों से आईएसआईएस को खदेड़ रहा था और इराक ने भी ईरान के सहयोग से अपने अधिकांश हिस्से को नियंत्रण में ले लिया। मध्य एशिया में रणनीतिक समीकरण बदलने की शुरुआत में ही यह स्पष्ट हो गया कि ईरान इस परिवर्तन की धुरी है। इसके जवाब में 5 मार्च को सउदी और इजराइल मिलकर एक हो गये। दोनों ने अमरीका से ईरानी विस्तार को रोकने की गुहार लगायी और कहा कि इलाके की चार राजधानियाँ- बेरूत, दमस्क, बगदाद और साना ईरानी प्रभाव में आ चुकी हैं।

सउदी अरब अनेक कारणों से यमन के साथ अपने अधिकार क्षेत्र जैसा बर्ताव करता रहा है। अमरीका भी चाहता है सउदी की यह स्थिति बरकरार रहे, ताकि वाब अल-मंदेब, अदन की खाड़ी और सोकोत्रा द्वीप (तीनों यमन के क्षेत्र) पर सउदी का नियंत्रण रह सके। बाब अल-मंदेब भूमध्य सागर, लाल सागर, फारस की खाड़ी और हिन्द महासागर को जोड़नेवाला एक छोटा-सा नाका है। अफ्रीका, एशिया और यूरोप को जोड़नेवाले जल मार्ग का यह एक ऐसा नाका है जिसका महत्त्व स्वेज नहर से कम नहीं। तीनों महाद्वीपों के व्यापारिक माल, तेल व गैस ढोने वाले जहाजों का यहीं से गुजरना होता है। इजराइल की हिन्द महासागर में पहुँच का रास्ता भी यहीं है

और फारस की खाड़ी में ईरान को धमकाने जानेवाले उसके लड़ाकू जहाजों और पनडुब्बियों को यहाँ आसानी से रोका जा सकता है। इसलिए वह भी यमन में अपनी पसन्द की सरकार चाहता है।

अमरीका, सउदी अरब, इजराइल और इनके समर्थकों को डर है कि यमन में हाउदियों की सरकार बनने से अरब जगत में ईरान का प्रभाव बढ़ जायेगा। इससे क्षेत्र में रूस और चीन मजबूत रणनीतिक स्थिति हासिल कर सकते हैं। बाब अल-मंदेब और अदन की खाड़ी ने आज यमन को भू-रणनीति का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान बना दिया है। सउदी अरब के हमले की धमकी के साथ ही यमन में उसके खिलाफ भारी प्रदर्शन शुरू हो गये और देश की अधिकांश जनता मजबूती से हाउदियों के साथ आ गयी है। अमरीका, बहरीन, यूएई, कतर, कुवैत भी अपनी सेनाओं को तैयार कर अल-हादी को पुनःस्थापित करने की तैयारी कर चुके हैं।

एक स्थानीय ताकत होने के बावजूद सउदी अरब किसी बाह्य मदद के बिना ईरान का मुकाबला नहीं कर सकता। ईरान और उसके द्वारा निर्मित ''रेजिस्टैन्स ब्लॉक'' राष्ट्र समूह के जवाब में सउदी, मिस्र, तुर्की और पाकिस्तान (सुन्नी मुस्लिम देश) के साथ एक नया स्थानीय संगठन बनाना चाहता है। 21 मार्च को सउदी, यूएई, जॉर्डन, मिस्र और जीसीसी (गल्फ कोऑपरेशन काउन्सिल) के देश एक क्षेत्रीय सुरक्षा समझौते और अल-हदीदी की वापसी के लिए एक मीटिंग कर चुके हैं। जीसीसी के पाँच सदस्यों में से एक, ओमान ने ईरान से दोस्ताना रिश्ते के चलते यमन के खिलाफ युद्ध में भाग लेने से इनकार कर दिया है।

सउदी अरब ने यह झूठ प्रचारित किया है कि युद्ध ईरान द्वारा उसकी सीमा में घुसपैठ का परिणाम है। तुर्की ने आरोप लगाया है कि ईरान पूरे क्षेत्र को अपने प्रभाव में लेना चाहता है। मिस्र ने कहा है कि मिस्र, सउदी अरब और अरब के पैट्रो-शेख घरानों की सुरक्षा एक है। तीनों देश मिलकर यमन पर बम बरसा रहे हैं। पाकिस्तान ने 26 मार्च को कहा है कि सउदी अरब को किसी भी धमकी का करारा जवाब दिया जायेगा। इशारा ईरान की ओर है।

यह पहला मौका है जब इजराइल किसी अरब देश पर आक्रमण में सउदी अरब की मदद कर रहा है। अमरीका ने, जो पीछे से पूरे युद्ध को संचालित कर रहा है, अपने पुराने अंदाज में सूचनाओं और साधनों की मदद का वादा किया है। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि यमन पर हमला अमरीकी हमला है। 9 मार्च को अमरीका ने अरब लीग के माध्यम से एक संयुक्त अरब सेना का प्रस्ताव रखवाया था। निश्चय ही यह प्रस्ताव यमन पर हमले और ईरान, सीरिया, हिजबुल्ला और रजिस्टैन्स ब्लॉक के लिए था। यानी अमरीका और इजराइल की सेवा के लिए।

यमन की अस्थिरता का कारण हाउदी या ईरान नहीं है। इसकी जड़ में 2009 सउदी द्वारा कराया गया अमरीकी ड्रोन हमला और यमन के सुल्तान के निरंकुश-शासन को दशकों तक दिया गया उसका समर्थन है। मौजूदा युद्ध बहुत जल्दी ही अरब के इस सबसे गरीब देश की रीढ़ तोड़ देगा। क्षेत्र में सउदी वर्चस्व कायम रखने और ईरान की हेकड़ी निकालने के लिए इराक, लीबिया और सीरिया की सूची में एक और शहीद राष्ट्र का नाम जोड़ा जा रहा है।

हाउदी आन्दोलन की पैदाइश का कारण ईरान नहीं बल्कि यमन की राजनीति के आन्तरिक कारक हैं। हाउदी नेता कह चुके हैं कि वे ईरान के आदेश पर नहीं चल रहे हैं। इसके बावजूद सउदी और खाड़ी के अधिकारी व मीडिया गैर तथ्यात्मक बयानों से हाउदी को ईरानी एजेंट साबित कर रहे हैं। धर्मान्धता के सहारे ईरान की शिया मुसलमानों और यमन के शियेते मुसलमानों को अरबी और सुन्नी मुसलमानों और इस्लाम की दूसरी धाराओं के मुसलमानों का दुश्मन ठहराया जा रहा है। इसके विपरीत ईरान के समर्थक राष्ट्रों और *रजिस्टैन्स ब्लॉक* में इस्लाम की अलग-अलग धाराओं के मुसलमानों के राष्ट्र हैं। यहाँ तक कि पूरे मध्य और पश्चिमी एशियाई देशों में गैर इस्लामी धार्मिकता के लोगों के पक्ष में सबसे मजबूत आवाज ईरान की ही है।

यमन पर अमरीकी और सउदी कोष

का प्रमुख कारण होयूथी का ईरान की ओर झुकाव का व्यावहारिक फैसला है। 6 मार्च को वॉल स्ट्रीट जनरल ने लिखा था कि ''हाउदी आतंकवादी यमन की राजधानी पर कब्जा कर चुके हैं और ईरान, रूस व चीन के साथ सम्बन्ध मजबूत कर रहे हैं।''... हाउदी की आन्तरिक सरकार ईंधन आपूर्ति के लिए ईरान और ऊर्जा परियोजनाओं में निवेश के लिए रूस का रुख कर रही हैं। एक प्रतिनिधि मण्डल चीन जाने की योजना बना रहा है।''

आज हाउदियों के विनाश में लगे अमरीका और सउदी अरब ने अतीत में अपने हितों के लिए खूब इस्तेमाल किया है। सबसे पहले अमरीका और सउदी ने यमन में मुस्लिम ब्रदरहुड के बढ़ते प्रभाव के खिलाफ इनका इस्तेमाल किया। इसी के साथ-साथ शीत युद्ध के दौरान उत्तरी यमन के रिपब्लिकनों और दक्षिण में पीपुल्स डेमोक्रेटिक रिपब्लिक और यमन के खिलाफ हाउदियों के इस्तेमाल की कोशिश की गयी। लेकिन इस चाल को हाउदी जल्दी ही समझ गये और उन्होंने घोषित किया कि वे वाशिंगटन या सउदी राज-घराने के हाथ का खिलौना नहीं हैं। तभी से वाशिंगटन और सउदी राजघराना होयूथियों से नाराज है।

सउदी राज-घराना लगातार यमन की जनता की भावनाओं के विपरीत यमन के राजघराने के तानाशाहों की मदद करता रहा। प्रतिक्रिया के रूप में हाउदी आन्दोलन मजबूत होता गया। सन 2004 में उन्होंने हुसैन बद्रेदीन अल-हाउदी के नेतृत्व में यमन सरकार के खिलाफ विद्रोह किया। सउदी इस विद्रोह को दबाने में तो सफल रहा लेकिन हाउदियों के बढ़ते प्रभाव को न रोक सका। 2009 में यमनी सेना उनको रोकने में असफल रही। सउदी अरब ने यमन में अपनी सेना भी उतारी लेकिन हाउदियों को रोकने में नाकामयाब रहा। 2011 में सउदी को हाउदियों के साथ समझौता करना पड़ा। इसके बाद संक्रमणकालीन सरकार बनायी गयी। यह सरकार जल्दी ही रियाद की धुन पर नाचने लगी। सउदी और अमरीका ने मिलकर यमन के टुकड़े करने के योजनाएँ बनानी शुरू कर दी। होयूथियों ने संक्रमणकालीन सरकार को नकार दिया और अपनी लड़ाई जारी रखी। धीरे-धीरे सउदी अरब के खिलाफ यमनीन रिवोल्यूशनरी कमेटी, बाथ पार्टी ऑफ यमन, पोपुलर फोर्सेज यूनियन और अल-हादी की अपनी पार्टी जनरल पीपुल्स' कॉंग्रेस भी हाउदियों के साथ आ गयी।

सन् 2013 में *न्यूयॉर्क टाइम्स* ने प्रस्ताव किया था कि लीबिया, सीरिया, इराक और यमन के टुकड़े कर देने चाहिए। यमन के मामले में उसका कहना था कि इसे दो हिस्सों में बाँटना चाहिए। यह काम दक्षिणी हिस्से में एक जनमत संग्रह द्वारा कराया जा सकता है। *न्यूयॉर्क टाइम्स* ने आगे लिखा था कि पूरे दक्षिणी यमन पर उसके एक हिस्से को सउदी अरब में मिला देना चाहिए। लगभग सारा सउदी व्यापार समुद्र के रास्ते होता है और इससे अरब सागर में सीधी पहुँच के लिए सउदी अरब की फारस की खाड़ी पर निर्भरता कम हो जायेगी और होमरुज जलडमरू को बन्द कर देने की ईरान की ताकत का भय भी कम हो जायेगा। आज सउदी अरब और अमरीका इसी नीति पर काम कर रहे हैं।

...पृष्ठ 64 का शेष

कम्पनी की क्रय शक्ति पैसे की कमी से जूझती सरकार से ज्यादा बोली लगा सकती है या उसे अभिभूत कर सकती है। ऐसा लगता है कि कांग्रेस सरकार के मामले में, जिसने पिछले साल तक राज किया था, यही हुआ। फिर भी जैसा की हमने लन्दन में देखा मीडिया संगठन एचएसबीसी जैसे कॉरपोरेशन के प्रभाव में झुक जाते हैं। जब सर रिचर्ड रिफकाइंड चीन की कम्पनियों को लाभ पहुँचाने के लिए ब्रिटिश दूतावास खोलने की शेखी बघारते हैं तो यह दिखाता है कि बिजनेस और राजनीति के बीच के सम्बन्ध अभी भी उतने ही घनिष्ठ है जितने कभी पहले थे।

ईस्ट इंडिया कम्पनी का अब अस्तित्व नहीं है और अच्छी बात है कि इसके समतुल्य कोई आधुनिक कम्पनी नहीं है। आमदनी के हिसाब से दुनिया के सबसे बड़े कॉरपोरेशन वॉलमार्ट के पास अपनी सम्पत्ति के तौर पर नाभकीय पनडुब्बियों का बेड़ा नहीं है और न ही फेसबुक और शेल के पास पैदल सेना की टुकड़ियाँ हैं। फिर भी पहला विराट बहुराष्ट्रीय कॉरपोरेशन और बेकाबू ईस्ट इंडिया कम्पनी आज की अनेकों मिश्रित-पूँजीवाले कॉरपोरेशंनों का अन्तिम मॉडल है। इनमें से सबसे ज्यादा शक्तिशाली कॉरपोरेशंस को अपनी खुद की सेनाओं की जरूरत नहीं है, ये अपने हितों की रक्षा के लिए और जमानत के लिए सरकारों पर निर्भर हैं। ईस्ट इंडिया कम्पनी कॉरपोरेट ताकत के सम्भावित दुरुपयोग के बारे में और उन कपटी तरीकों के बारे में जिनके तहत शेयरधारकों के हित राष्ट्र के हित बन जाते हैं, इतिहास की सबसे खौफनाक चेतावनी बनी हुई है। अपने स्थापना के तीन सौ पन्द्रह साल बाद भी इसकी कहानी इससे ज्यादा सामयिक कभी नहीं थी।

(द गार्जियन में प्रकाशित लेख का आभार सहित प्रकाशन अनुवाद : दिनेश पोसवाल)

पर्यावरण विनाश पूँजीवादी व्यवस्था का परिणाम है

(कॉप-20 शिखर सम्मलेन में इवो मोरालेस के भाषण का मुख्य अंश)

जलवायु परिवर्तन हमारे समय की गम्भीर वैश्विक चुनौतियों में से एक है। और हम देख रहे हैं कि विकासशील देश निरन्तर जलवायु परिवर्तन के दुष्परिणामों तथा चरम प्राकृतिक आपदाओं की बारम्बारता और तीव्रता को झेल रहे हैं, हालाँकि वे ऐतिहासिक रूप से ऐसे देश हैं जो जलवायु परिवर्तन के लिए बहुत ही कम जिम्मेदार रहे हैं।

जलवायु परिवर्तन न केवल विकासशील देशों के विकास की सम्भावना और उनके टिकाऊ विकास के लिए खतरा उत्पन्न करता है, बल्कि यह माँ धरती के देशों, समाजों और पारिस्थितिकी के अस्तिव और उनकी उत्तरजीविता के लिए ही खतरा है।

हम घोषित करते हैं कि जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र रूपरेखा सम्मलेन, जलवायु परिवर्तन के प्रति वैश्विक अनुक्रिया के विषय में वार्ता का एक अनिवार्य अन्तरराष्ट्रीय और अन्तरसरकारी मंच है। इस अनुक्रिया को सम्मलेन के सिद्धान्तों, प्रावधानों और अन्तिम लक्ष्य का पूरी तरह सम्मान करना जरूरी होगा, खास कर बराबर, निष्पक्ष और एक समान, लेकिन विभेदीकृत जिम्मेदारियों के सिद्धान्त का।

और हम रेखांकित करते हैं की अनुकूलन, वित्तपोषण और तकनीक के बारे में नया संयुक्त राष्ट्र जलवायु परिवर्तन प्रावधानों की रचना की जाय, जैसा कि जलवायु परिवर्तन के प्रति एक समग्र दृष्टिकोण के साथ जी-7 और चीन की ओर से प्रस्तावित है, जिसमें ऐसा शमन और अनुकूलन शामिल है, जो कानून और जनता के विकास के साथ मेल खाता हो।

बहनो और भाइयो, अब मैं जलवायु परिवर्तन से सम्बन्धित नैतिक और राजनीतिक चिन्ताओं को लेकर बोलीविया के बहुलतावादी राष्ट्र की सरकार के गहन दृष्टिकोण और अवस्थिति का इजहार करते हुए आपसे धैर्य और सहनशीलता की माँग करता हूँ। हम जीवन और माँ धरती की हिफाजत पर आधारित जलवायु सहमति हासिल कर सकते हैं, न कि बाजार, मुनाफा और पूँजीवाद पर आधारित।

पेरू के भूक्षेत्र में आज जो महान सभ्यता है, महान देशज सभ्यता, ज्ञान से भरपूर और जिसने हमारे लिए महान विरासत सौंपी है, कई वर्षों पहले उसका विस्तार हमारे समूचे महाद्वीप में था। आज, जबकि लीमा में कॉप-20 का अयोजन हो रहा है, मैं यह माँग करता हूँ कि हम अपने निर्णय की दिशा अब्या याला की हमारी देशज जनता के उसी ज्ञान के अनुरूप तय करें।

हम उन्हीं लोगों के दर्शन और मूल्यों का उपयोग करते हुए जलवायु सहमति कायम करें, उपनिवेशवाद विरोधी दृष्टिकोण पर आधारित एक नयी जलवायु सहमति। हम दुनिया भर की देशज जनता मिलें और इस मुद्दे पर तब तक चर्चा करें, जब तक हम एक राय न बना लें; हम वर्तालाप और विमर्श करने में कई दिन और कई रात लगा सकते हैं, लेकिन हमारा लक्ष्य है कि हम सभी लोगों के बीच सहमति बन जाये।

हम जोड़तोड़ नहीं करते, हम धोखाधड़ी नहीं करते और हम मुद्दों को उलझाते नहीं। सहमति पर पहुँचने के दौरान बात करने के लिए और बात सुनने के लिए हम एक-दूसरे को भरपूर समय देते हैं। यहाँ हर चीज खुल्लमखुल्ला है।

और हमारे देशज पुरखों ने हमें सिखाया है कि एक न्यायपूर्ण समाज तीन सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए-- "अमा सुआ," "अमा लुल्ला" और "अमा कुएल्ला"-- यानी चोरी मत करो, झूठ मत बोलो और काहिल मत बनो।

मैं कहता हूँ कि अपने पुरखों की उन्हीं नीतियों और मूल्यों का इस्तेमाल करके हम एक नयी जलवायु सहमति विकसित करें, जिसकी शुरुआत "अमा सुआ" से हो। हम डकैत नहीं हैं; हमें दूसरों की चीजें नहीं चुरानी चाहिए।

हाल ही में जलवायु परिवर्तन पर अन्तरसरकारी संयुक्त राष्ट्र पैनल ने अपनी ताजा रिपोर्ट में यह निचोड़ दिया है कि अगर हम नहीं चाहते कि तापक्रम में दो डिग्री सेंटीग्रेड की बढ़ोतरी हो तो हम 2050 तक वातावरण में ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन एक हजार गीगाटन से अधिक नहीं कर सकते।

और अगर हम चाहते हैं कि वातावरण का तापक्रम डेढ़ डिग्री सेंटीग्रेड से अधिक न बढ़े तो कार्बनडाई ऑक्साइड के उत्सर्जन की मात्रा लगभग 630 गिगाटन से कम होना चाहिए।

जो वायुमण्डलीय आकाश हमारे ग्रह में स्थित है, उसमें निष्पक्ष और सामान रूप से, किन्तु अलग-अलग जिम्मेदारियों के सिद्धान्तों पर आधारित, सब का बराबर हिस्सा होना जरूरी है,

लेकिन कुछ लालची देश हैं जो चाहते हैं कि वायुमण्डलीय आकाश में जो कुछ भी है, उसका वे अकेले ही उपभोग करें। वे देश औपनिवेशिक काल से ही हमारे साथ चोरी-डकैती कर रहे हैं और आज भी इसे जारी रखना चाहते हैं। वे हमारा भविष्य, हमारे बच्चों का भविष्य और हमारी आनेवाली पीढ़ियों का भविष्य चुरा रहे हैं और वे हमारी इस सम्भावना पर भी डाका डाल रहे हैं कि हम टिकाऊ तरीके से विकास कर सकें।

और अगर विकासशील देश अपनी

जनता को अधिक सम्मानजनक जिन्दगी मुहैय्या करने की जिम्मेदारी के चलते ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन करते हैं तो वे हमारी तरफ उँगली उठाते हैं। हाँ, वे उन देशों पर प्रतिबन्ध लगाना और साजा देना चाहते हैं जो अपनी जानता को खाना खिलाने के लिए इसमें से बहुत थोड़ा-सा हिस्सा लेते, लेकिन वे खुद को सजा नहीं देते जो धनी होने और अपनी अय्यासी के लिए भारी मात्रा में चोरी करते हैं।

ऐसे देशों का एक बड़ा गिरोह है जिसने वातावरण के साथ ऐतिहासिक रूप से दुराचार किया और जो धरती माँ के जलवायु का संहार करने पर आमादा हैं।

लेकिन पूरी ईमानदारी के साथ हमें यह भी कहना है कि ऐसे भी देश हैं जो उसी तरह का व्यावसायिक और उपभोक्तावादी रास्ता अपना रहे हैं। वे भी हिंसक और लालची पूँजीवाद पर आधारित उपभोग और उत्पादन का वही ढाँचा खड़ा कर रहे हैं, धनवान बनने की लालसा में चन्द लोगों के हाथों में सम्पत्ति संचित और केन्द्रित कर रहे हैं, जिस लालसा के चलते गरीबी और वंचना लगातार उत्पन्न होती रहती है।

बहनो और भाइयो, हम ऐसा कोई जलवायु समझौता स्वीकार नहीं कर सकते जो पूँजी को लाभ पहुँचाने, मुट्ठी-भर लोगों को खुशहाल बनाने और लुटेरी उपभोक्तावादी वृद्धि के लिए धरती माता और मानवता को मौत के मुँह में धकेलता हो। हम यहाँ जीवन के हक में जलवायु समझौता करने आये हैं, व्यापारियों और पूँजीवादी व्यवसायियों के लिए नहीं।

दूसरे, "हम झूठे लोग नहीं हैं" अमा लुल्ला, यानी झूठ मत बोलो। हम एक नये जलवायु समझौते के लिए ऐसी वार्ता जारी नहीं रख सकते जिसमें एक देश दूसरे देश से झूठ बोलते हैं, जिसमें वे कहते हैं कि वे जलवायु परिवर्तन के लिए कुछ करने जा रहे हैं, लेकिन वास्तव में कुछ भी करना नहीं चाहते, जिसमें वे कहते कुछ और हैं, लेकिन वास्तव में वे कुछ और ही करने की सोच रहे होते हैं अथवा जिसमें वे नहीं बताते कि वे क्या सोच रहे हैं और क्या कर रहे हैं।

जो समझौता धरती माता की पर्यावरणीय अखण्डता की, हमारे अनोखे मानव समुदाय की अखण्डता कि गारन्टी नहीं करता, वह नैतिक नहीं है। जो समझौता केवल पूँजीपतियों के बारे में सोचता है और जीवन को प्रोत्साहित नहीं करता, वह झूठ बोलता है। हम जीवन की जगह पूँजी के हित स्वार्थों की पूर्ति करनेवाले शक्तिशाली लोगों को एक ऐसा नया जलवायु समझौता नहीं थोपने देंगे, जो मानवता और धरती माता को मौत की ओर धकेलता हो।

तीसरा सिद्धान्त, "हम लोग काहिल नहीं हैं," अमा क्वेल्ला, यानी काहिल मत बनो। विकसित देश कार्बन उत्सर्जन में कमी का अपना लक्ष्य बढ़ाना नहीं चाहते। साथ ही रूपरेखा सम्मेलन के अधीन निर्धारित समन्वय, आर्थिक और तकनीकी प्रावधान तथा क्षमता बढाने के अपने लक्ष्यों को तो वे इससे भी कम लागू करना चाहते हैं।

इससे भी बदतर, कुछ देश ऐसे हैं जो एक नये जलवायु समझौते को बढ़ावा दे रहे हैं, जिसमें सारी कोशिश इसके लिए है कि ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जन को स्वैच्छिक बना दिया जाय, जो उनके लिए बहुत ही सुविधाजनक है, यानी हर देश अपनी ओर से वचन दे, विकसित देश अपनी ऐतिहासिक जिम्मेदारी को नकार दें और अगले तीस वर्षों में तीन या चार डिग्री सेल्सियस से भी अधिक तापमान बढ़ाकर मानवता के लिए खतरा पैदा करें।

अगर विकसित देशों ने उत्सर्जन घटाने का अपना वचन निभाया होता और सम्मेलन में उनसे जिस कार्रवाई की अपेक्षा की गयी थी, उसे पूरा किया होता, तो आप यकीन करें कि इस मुकाम पर हम जलवायु परिवर्तन के बारे में सर्वनाशी पूर्वानुमानों की चर्चा नहीं सुन रहे होते। लेकिन ऐसे भी देश हैं, जिनके देश में उत्सर्जन में कमी लाना उनके आर्थिक विकास को प्रभावित करेगा तथा वे विकसित देशों का समर्थन करने और जलवायु परिवर्तन से निबटने को इच्छुक नहीं हैं।

ऐसे भी देश हैं जो सम्मेलन में तय की गयी अपनी जिम्मेदारी पूरी करने के बजाय इस बात को सुनिश्चित करने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगाते हैं कि दूसरे लोग जो कर सकते हैं करें या भविष्य में उनको जो करना होगा सो करेंगे। और इसीलिए हम उनसे कहते हैं कि वे मूलनिवासी देशों की राह पर चलें-- चोरी मत करो, झूठ मत बोलो और काहिल मत बनो।

हम वायुमंडलीय अन्तरिक्ष और विकास का अधिकार जो दूसरे देशों से, खास कर गरीब देशों से मेल खाती है, उसे चुराते नहीं हैं। हम झूठ नहीं बोलते और किसी को ठगते नहीं; हम जिस समझौते से सहमत होते हैं, उसकी शर्तों का पालन करते हैं। हम काहिल नहीं हैं और ऐसे महत्त्वाकांक्षी वादों के साथ समझौता करते हैं जो धरती माता की अखण्डता सुनिश्चित करने के लिए जरूरी हो तथा जो उत्सर्जन में कटौती, अनुकूलन, वित्तपोषण, तकनोलोजी और पूँजी के विकास को समन्वित करता हो।

कॉप-20 शिखर सम्मलेन में शामिल बहनो और भाइयो, कभी-कभी हम सम्मेलन के कक्ष में केवल ग्लोबल वार्मिंग के प्रभावों पर चर्चा करते हैं, इसके उद्भव पर नहीं। हमने तीस वर्षों तक ढकोसला और बेकार की वार्ताएँ की, जिनका कोई नतीजा नहीं निकला।

आज हम खुद को धरती माता के विनाश के कगार पर पा रहे हैं, मानव जाती के गायब होने का सामना कर रहे हैं। उत्तरी गोलार्ध के विकसित देशों ने, जो प्रकृति के विनाश के लिए जिम्मेदार हैं, अपनी मनोवांछित वचनबद्धता को उचित ठहराने के लिए हमें बंजर धरती तक पहुँचा दिया। हम विकासशील देशों ने इस एकतरफा और बाँझ वार्तालाप को वैधानिक बनाने का साधन मुहैय्या किया।

हमने शक्तिशालियों के लिए पुराने करतूतों को दुहराने का बहाना मुहय्या किया, जिसका निपटारा वार्ता और विचार-विमर्श के ढोंग-पाखण्ड से हुआ। पर्यावरणवाद की इस सारी कवायद के भीतर भारी मात्रा में पाखंड, नस्लवाद और नवउपनिवेशवाद निहित है।

जलवायु परिवर्तन एक बार फिर पूँजीवादी विकास के उस हरामखोर मॉडल से ध्यान हटानेवाला एक सेफ्टी वाल्व हो गया है जो इस मानवता को विनाश की ओर ले जा रहा है। कम समय गँवा रहे हैं, क्योंकि वार्ता बराबर की ताकतों के बीच नहीं हो रही है; यह एक असफल एकालाप है।

अब आप से यह कहना जरूरी है कि इन तीस वर्षों में कुछ भी नहीं बदला।

अपनी जनता की ओर से, मैं केवल यही कह सकता हूँ कि हम एक बार फिर ठगा हुआ महसूस कर रहे हैं, क्योंकि अन्तरराष्ट्रीय समझौते के नाम पर जिस पाखंड से हमारा सामना हुआ, वे पहले ही कम नहीं थे। हमारी जनता इन छलावों से तंग आ चुकी है, वे लोग तापमान में बढ़ोतरी से, हमारे हिमाच्छादित पर्वतों के पिघलने से, भारी बर्षा से, बेरहम बाढ़ और दिल दहलानेवाले सूखे से तंग आ चुके हैं, जो हर बार हमें और अधिक गरीब बनाते हैं।

हमें जलवायु परिवर्तन के बुनियादी कारणों को समझना होगा। हमें अब और मसविदा रिपोर्ट नहीं चाहिए; हम कहीं अधिक ढाँचागत समाधान चाहते हैं, पूँजीवाद से निजात चाहते हैं, दुनिया की जनता को बचाना चाहते हैं। गैस या विषैले उत्सर्जन में एक या दो डिग्री कमी लाने से भला क्या होगा, जब अगली पीढ़ी दमघोंटू गर्मी से पककर खत्म हो जायेगी?

मूल समस्या लोभी वित्तीय वास्तुकला पर आधारित सभ्य बनानेवाला कल्पित मॉडल है, जिसमें सम्पति सिर्फ मुट्ठी-भर लोगों के हाथों में केन्द्रित है और जो मानवता की बहुसंख्या के लिए गरीबी पैदा करता है।

बहनो और भाइयो, मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि अगर हमारी शताब्दी और हमने अपने ग्रह के लिए मुसीबत खड़ी करनेवाली समस्त वित्तीय, राजनीतिक, जलवायुगत और सामाजिक विकृतियों के गुरुत्व केन्द्र को नहीं बदला, तो सर्वसम्मत समझौते की तलाश एक कपोल कल्पना से ज्यादा कुछ नहीं होगा।

जलवायु परिवर्तन की समस्या का एक दूसरा कारण महाशक्तियों की युद्ध राजनीति और उस पर खर्च होनेवाला भारी बजट है। पाँच बड़ी सैनिक शक्तियों द्वारा सेना पर जितना पैसा खर्च किया जाता है उसके आधे में हम अपनी पर्यावरण सम्बन्धी आधी समस्याएँ हल कर सकते हैं।

और जलवायु परिवर्तन का तीसरा कारण अतिशय औद्योगीकरण, अन्धाधुन्ध उपभोग और संसाधनों की लूट है जो मानवता की बड़ी बीमारियों को बढ़ा सकते हैं। वित्तीय वास्तुकला और युद्ध की राजनीति को सही ठहरानेवाले आर्थिक मॉडल की नाभि में मुक्त बाजार की राजनीति है, यानी परभक्षी पूँजीवादी नीतियाँ जो मुनाफा, अय्यासी और भोगविलास के सिवा किसी चीज पर ध्यान नहीं देतीं। लोगों के साथ वस्तु की तरह व्यवहार किया जाता है और धरती माता को एक माल की तरह।

मानवता और धरती माता के जीवन की रक्षा के लिए प्रस्ताव

आज हम क्या कर रहे हैं? बड़ी विश्व शक्तियों की सरकारें और पूँजीपति जो जलवायु महाविनाश के लिए जिम्मेदार हैं, उन्होंने यह दिखा दिया कि वे सम्पूर्ण प्रकृति और मानवता को जोखिम में डालनेवाली इस संसारव्यापी त्रासदी की रफ्तार कम करने में असमर्थ हैं। उनकी सत्ता और मुनाफा पर्यावरण की अपूरणीय क्षति पर ही कायम है।

जलवायु परिवर्तन को रोकने का जिम्मा उन लोगों के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता जो प्रकृति के विनाश से मुनाफा कमाते हैं। इसीलिए हम जनता के लोगों को जीवन और समाज की निरन्तरता कायम रखने के लिए सीधे अपनी जिम्मेदारी स्वीकारनी होगी। इसके लिए सरकार पर नियंत्रण कायम करके, उस शक्ति का प्रयोग सरकार और पूँजीपतियों दोनों पर एक समान दबाव डालने के लिए करना होगा, ताकि खुद को प्राकृतिक विनाश के इस रसातल में गिरने से बचाने के लिए हम सख्त और फौरी कदम उठा सकें।

अपने जीवन और अपनी भावी पीढ़ी के अस्तित्व की हिफाजत के लिए यह बेहद जरूरी है कि दुनिया की जनता, कठोर परिश्रम करनेवाला समाज जो जलवायु परिवर्तन के प्रभावों का हर रोज सामना कर रहा है, वह सरकार, राजनीति और अर्थव्यवस्था का नियंत्रण अपने हाथ में ले तथा मानवता और धरती की हिफाजत के लिए इसका इस्तेमाल करे।

हमें पूँजीवादी संचय पर, उपभोक्ता मालों के अन्तहीन संचय पर लगाम लगाना होगा। हमें एक अन्य सभ्यता, अन्य समाज, अन्य मानसिकता, अन्य मूल्य, अन्य संस्कृति की जरूरत है जो मानवीय जरूरतों को तरजीह देते हों, मुनाफे को नहीं, जो मानव जाति और धरती माता में विश्वास रखते हों, "पैसा पीर" में नहीं।

या तो हम वैश्विक पूँजीवादी समाज को बदलें या यह विश्व जनगण और प्रकृति को ही खत्म कर देगा।

पर्यावरण विश्व की सम्पूर्ण जानता की, आदिम जनता की, वर्तमान जनता की और भविष्य में आनेवाली जनता की साझी विरासत है।

पर्यावरण एक साझा संसाधन है। और इसीलिए इसका प्रबन्ध हमें एक समुदाय के रूप में करना जरूरी है। प्रकृति अपने आप में ही एक समुदाय है, क्योंकि यह सबके लिए लाभदायक है और सबको प्रभावित करती है। हमारी प्राचीन मूलनिवासी जनता यह जानती थी और इसीलिए नह समुदाय के रूप में रहती थी।

बहनो और भाइयो, प्रकृति के साथ सामंजस्य कायम करके जीने का एकमात्र उपाय समुदाय है। समुदाय ही पर्यावरण को, जीवन को और उसी के अनुरूप मानव जाति को बचानेवाला है। समुदाय जीवन है, पूँजीवाद मौत। समुदाय धरती माता के साथ सामंजस्य है और पूँजीवाद धरती माता का विनाश।

आखिरकार, इस पर विचार करना महत्त्वपूर्ण है कि कैसे हमें उन लोगों को आँकनेवाली संस्थाएँ खड़ी करनी है जो हमारे ग्रह को प्रदूषित करते हैं, जो हमारी धरती माता को घायल करते हैं। मानवता को जलवायु न्याय के लिए एक अन्तरराष्ट्रीय ट्रिब्यून गठित करना है, ताकि न्याय करना सम्भव हो।

बहनो और भाइयो, संक्षेप में यही वह अनुभव है जो मूलनिवासी जनता ने समुची मानवता की भलाई के लिए हमें प्रदान किया है।

बहुत-बहुत धन्यवाद। (तालियाँ)

(अनुवाद- दिगम्बर)

विशेष लेख

ईस्ट इंडिया कम्पनी : पहले कॉरपोरेट लुटेरे

–विलियम डालरिम्पले

अंग्रेजी भाषा का हिस्सा बननेवाले सबसे पहले भारतीय शब्दों में से एक शब्द था लूटपाट के लिए इस्तेमाल किया जानेवाला आम बोलचाल का हिन्दुस्तानी शब्द-- "लूट"। ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी के अनुसार, अचानक ही ब्रिटेन में हर तरफ एक आम शब्द बन जाने से पहले, अठारहवीं सदी के अंतिम दशकों तक यह शब्द उत्तरी भारत के मैदानी इलाकों के बाहर बामुश्किल ही सुना गया था। यह समझने के लिए कि क्यों और कैसे इस शब्द ने एक दूरदराज की धरती पर अपनी जड़ें जमाई और फला-फूला, इसके लिए किसी को भी सिर्फ पोविस कैसल का मुआयना करने भर की जरूरत है।

वेल्स के आखिरी वंशानुगत राजकुमार ओवेन ग्रुफद अप ग्वेनविनविन ने तेहरवीं सदी में एक पहाड़ी किले की तरह पोविस कैसल का निर्माण किया था- यह रियासत उसे वेल्स को अंग्रेज राजतंत्र के लिए छोड़ देने के बदले ईनाम स्वरूप मिली थी। लेकिन इसके सबसे शानदार खजाने बाद में अंग्रेज विजय और स्वायत्तीकरण के वक्त के हैं- पोविस महल भारत में की गयी लूट से अटा पड़ा है, कमरा दर कमरा अठारहवीं सदी में ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा निचोड़ी गयी शाही लूट से भरा है।

वेल्स के देहाती इलाके के इस निजी घर में भारत में किसी भी एक जगह प्रदर्शित की जानेवाली कलाकृतियों से कहीं ज्यादा मुगल कलाकृतियों का ढेर लगा है- यहाँ तक कि दिल्ली के राष्ट्रीय म्यूजियम से भी ज्यादा। इस खजाने में बैंगनी आबनूस जड़े चमकते हुए सुनहरे हुक्के शामिल हैं; हीरे-जवाहरात और शानदार नक्काशीवाले खंजर हैं; कबूतर के खून की रंगतवाले जगमगाते रूबी और गिरगिट जैसी हरी रंगतवाले पन्ने बिखरे हुए हैं। पीले पुखराज से सजी तलवारें हैं जिनमें मूँगा और हाथीदांत की सजावट है; हिन्दू देवताओं की मूर्तियाँ, रेशमी परदे और हाथी के कलात्मक अंगरखे हैं।

इन खजानों की चकाचौंध इतनी ज्यादा है कि पिछली गर्मी में एक पर्यटक के तौर पर मैं उस विशाल मढ़े हुए कैनवास को देखने से लगभग चूक ही गया था जिसमें बताया गया है कि ये खजाने यहाँ कैसे आये। यह तस्वीर एक अँधेरे, शाहबलूत के चौखटेवाली सीढ़ी के शीर्ष पर छाया में लटकी हुई है। यह कोई उत्कृष्ट कृति नहीं है लेकिन इसका बारीकी से अध्ययन करना चाहिए। सोने के कपड़े पहने हुए एक भारतीय राजकुमार एक रेशमी शामियाने के नीचे अपने सिंहासन पर बैठा है। उसके बांयी तरफ शमशीर और भाले लिये हुए उसकी अपनी सेना के अधिकारी खड़े हैं और उसके दांयी तरफ सत्ताधारी और घुंघराले बालों का कनटोप पहने, जार्जियाई सज्जनों का एक समूह खड़ा है। राजकुमार एक लाल चोगाधारी थोड़े थुलथुले राजनेतानुमा अंग्रेज के हाथों में व्यग्रतापूर्वक एक लपेटा हुआ मसौदा थमा रहा है।

यह पेंटिग अगस्त 1765 के एक दृश्य को दिखाती है जब युवा मुगल बादशाह शाह आलम को दिल्ली से निर्वासित कर दिया गया था और ईस्ट इंडिया कम्पनी के सैन्यदलों ने उसे पराजित कर दिया था। फिर उसे ऐसा फैसला लेने के लिए मजबूर किया गया था जिसे आज हम अनैच्छिक निजीकरण की कार्रवाई कह सकते हैं। यह मसौदा बंगाल, बिहार और उड़ीसा में उसके मालगुजारी वसूलनेवाले अपने मुगल अफसरों को बरखास्त करने का और उनकी जगह बंगाल के नये गवर्नर राबर्ट क्लाइव तथा ईस्ट इंडिया कम्पनी के निर्देशकों द्वारा नियुक्त अंग्रेज व्यापारियों को तैनात करने का आदेश है जो उस दस्तावेज के अनुसार "रईस और शक्तिशाली, कुलीनों में सबसे कुलीन, उत्कृष्ट योद्धाओं के सेनानायक, हमारे विश्वासी सेवक और सच्चे हितैषी, हमारी राजसी कृपादृष्टि के योग्य, अंग्रेज कम्पनी" हैं। इस तरह उसके बाद से मुगल मालगुजारी वसूलने के काम को एक शक्तिशाली बहुराष्ट्रीय निगम को हस्तांतरित कर दिया गया जिसकी मालगुजारी वसूलने की कार्रवाइयाँ उसकी अपनी निजी सेना द्वारा संरक्षित थीं।

यह वही क्षण था जब ईस्ट इंडिया कम्पनी ने रेशम और मसालों का व्यापार करनेवाले परम्परागत निगम के तौर पर काम करना बंद कर दिया और वह कुछ ज्यादा अनोखी चीज बन गयी। कुछ ही साल में 20,000 स्थानीय भारतीय सैनिकों की सेना से सुरक्षित 250 कम्पनी क्लर्क बंगाल के वास्तविक शासक बन गये। एक अन्तरराष्ट्रीय निगम खुद को एक आक्रामक औपनिवेशिक शक्ति में रूपांतरित कर रही थी।

लगातार बढ़ते अपने इस सुरक्षा बल (1803 तक इसकी सेना में सैनिकों की संख्या बढ़कर 260,000 हो गयी थी) का इस्तेमाल करते हुए इसने जल्दी ही पूरे उपमहाद्वीप को अधीन अपने कब्जे में कर लिया। आश्चर्यजनक रूप से इसमें सिर्फ आधी सदी लगी। बंगाल में पहला गम्भीर क्षेत्रीय विजय अभियान 1756 में प्रारम्भ हुआ था और 47 साल बाद कम्पनी की पहुँच उत्तर में मुगलों की राजधानी दिल्ली तक विस्तारित हो गयी और इस शहर के दक्षिण का लगभग पूरा भारत प्रभावी रूप से लन्दन शहर के कम्पनी अधिकारियों द्वारा शासित था। 1765 के कुछ ही समय पश्चात नारायण सिंह नाम के एक मुगल अधिकारी ने पूछा, "इज्जत के नाम पर अब हमारे पास

बचा ही क्या है, जब हमें उन मुट्ठी-भर व्यापारियों से आदेश लेना पड़ता है जिन्होंने अब तक अपना पिछवाड़ा धोना भी नहीं सीखा है?"

वह कोई ब्रिटिश सरकार नहीं थी जिसने भारत को अपने कब्जे में कर लिया था बल्कि एक अस्थिर असामाजिक मनोरोगी द्वारा संचालित एक निजी कम्पनी थी।

हम अभी भी ब्रिटिशों के द्वारा भारत की जीत के बारे में बात करते हैं, लेकिन यह शब्दावली एक ज्यादा भयावह वास्तविकता को छुपा लेती है। वह ब्रिटिश सरकार नहीं थी जिसने अठारहवीं सदी के अन्त में भारत पर कब्जा कर लिया था बल्कि वह लन्दन में पाँच खिड़कियोंवाले एक छोटे से दफ्तर में स्थित एक खतरनाक ढंग से अनियंत्रित निजी कम्पनी थी जिसे भारत में एक अस्थिर असामाजिक मनोरोगी क्लाइव चला रहा था।

कई मामलों में ईस्ट इंडिया कम्पनी कॉरपोरेट दक्षता का मॉडल थी- सौ सालों के अपने इतिहास में उसने अपने मुख्यालय में सिर्फ 35 स्थाई कर्मचारी नियुक्त किये। इसके बावजूद इस मामूली स्टाफ ने इतिहास में किसी भी समय के मुकाबले ज्यादा बड़े कॉरपोरेट तख्तापलट को अंजाम दिया- दक्षिणी एशिया के बड़े भूभाग में सैन्य जीत हासिल की, आधिपत्य जमाया और लूटा। निश्चित रूप से यह विश्व इतिहास में कॉरपोरेट हिंसा का सबसे बड़ा कृत्य है। आज दुनिया के सबसे बड़े कॉरपोरेशंस- एक्सोनमोबिल, वॉलमार्ट या गूगल ने चाहे जितनी भी शक्ति हासिल कर ली हो, फिर भी ये सब सेना से सुसज्जित उस ईस्ट इंडिया कम्पनी की क्षेत्रीय लूटपाट की विनाशकारी भूख के आगे मामूली भूत-पिशाच नजर आते हैं। फिर भी इतिहास अगर कुछ दर्शाता है तो बस यही कि राज्य की शक्ति और कॉरपोरेशन के बीच के अन्तरंग सम्बन्धों में, नियंत्रण का विरोध करने में कॉरपोरेशन अपनी पूरी शक्ति और सारे संसाधनों का इस्तेमाल करते हैं, भले ही आखिर में उनको बश में कर लिया जाता हो।

जब वह उसके लिए लाभदायक था तब ईस्ट इंडिया कम्पनी ने सरकार से अपने कानूनी अलगाव का भरपूर इस्तेमाल किया। उसने प्रबलतापूर्वक, और सफलतापूर्वक, तर्क दिया कि शाह आलम द्वारा हस्ताक्षरित दस्तावेज (जिसे दीवानी के नाम से जाना जाता था) कम्पनी की कानूनी सम्पत्ति था, न की शाही ताज की, हालाँकि सरकार ने ईस्ट इंडिया कम्पनी की भारतीय अधिग्रहण की सुरक्षा के लिए जहाजी और सैन्य कार्यवाहियों में भारी मात्रा में धन खर्च किया था। लेकिन वे सांसद जिन्होंने इस कानूनी प्रावधान को बनाये रखने के लिए वोट दिया वे वास्तव में निष्पक्ष नहीं थे- उनमें से लगभग एक चौथाई के पास कम्पनी के स्टॉक थे और अगर शाही ताज कम्पनी को अपने नियंत्रण में ले लेता तो इनकी कीमतें धराशाई हो जातीं। इसी वजह से कम्पनी को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने की जरुरत ब्रिटिश विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य बन गयी।

पेंटिग में दर्शाये गये समझौते के अनर्थकारी परिणाम हुए। तब भी और आज भी जैसा कि ऐसे कॉरपोरेशंस के साथ होता है, ईस्ट इंडिया कम्पनी सिर्फ अपने शेयरधारकों के प्रति जवाबदेह थी। चूँकि क्षेत्र के न्यायसंगत शासन या दीर्घकालिक कल्याण में कम्पनी का कोई फायदा नहीं था इसलिए जल्दी ही कम्पनी का शासन सीधे-सीधे बंगाल को लूटने में और उसकी धनदौलत को तेजी से पश्चिम भेजने में लग गया।

जल्द ही यह प्रांत जो पहले ही युद्ध की वजह से उजड़ा हुआ था, उसे 1769 में अकाल का सामना करना पड़ा और उसके बाद भारी मालगुजारी ने उसे पूरी तरह तबाह कर दिया। कम्पनी के मालगुजारी वसूलनेवाले उस अपराध के लिए जिम्मेदार थे जिसे आज मानवधिकारों का उल्लंघन कहा जाता है। बंगाल में पुराने मुगल प्रशासन के एक वरिष्ठ अधिकारी ने अपनी डायरी में लिखा- "अपने खजाने का पता बताने के लिए भारतीयों को यातनाएँ दी जाती थी; शहर, कस्बे और गाँव लूट लिए गये; जागीरें और इलाके बरबाद कर दिये गये; ये सब कार्रवाइयाँ निर्देशकों और उनके सेवकों के "आनन्द' और 'धर्म' थे।"

बंगाल की धनदौलत तेजी से प्रवाहित होकर ब्रिटेन पहुँच गयी, जबकि इसके खुशहाल बुनकर और शिल्पकार अपने नये मालिकों द्वारा "गुलामों की दशा" में पहुँचने के लिए बाध्य कर दिये गये, और यहाँ के बाजारों में ब्रिटिश उत्पादों की बाढ़ आ गयी। बंगाल की लूट का एक बड़ा हिस्सा सीधे क्लाइव की जेब में गया। वह जितनी व्यक्तिगत सम्पत्ति (उस वक्त उसकी कीमत 2,34,000 पाउंड आंकी गयी) के साथ ब्रिटेन लौटा उसने उसे अपनी मेहनत से बना यूरोप का सबसे धनी शख्स बना दिया। 1757 में प्लासी के यूद्ध के बाद, एक ऐसी जीत जो सैन्य ताकत से ज्यादा विश्वासघात, जाली अनुबंधों, बैंकरों और रिश्वतों का नतीजा थी, उसने ईस्ट इंडिया कम्पनी के खजाने में बंगाल के पराजित शासकों से जब्त किये गये कम से कम 25 लाख पाउंड हस्तांतरित किये, जो आज के मूल्य के हिसाब से क्लाइव के लिए 2.3 करोड़ पाउंड और कम्पनी के लिए 25 करोड़ पाउंड के बराबर बैठते हैं।

इसके लिए बहुत नफासत की जरुरत नहीं थी। बंगाल के खजाने का सारा माल बड़े आराम से 100 नावों में लाद दिया गया और बंगाल के नवाब के महल से गंगा के रास्ते कम्पनी के कलकत्ता मुख्यालय फोर्ट विलियम पहुँचा दिया गया। इसका एक हिस्सा बाद में पोविस के पुनर्निर्माण के लिए इस्तेमाल किया गया।

पोविस में टंगी वह पेंटिंग जो दीवानी दिये जाने की घटना को दिखाती है वह समुचित रूप से भ्रामक है- उसके पेंटर बेंजामिन वेस्ट कभी भी भारत नहीं गये। यहाँ तक कि एक समीक्षक ने चिह्नित किया कि पृष्ठभूमि में दिखायी गयी मस्जिद सन्देहास्पद ढंग से "सेंट पाल के हमारे पूजनीय गुम्बद" के बहुत अधिक समरूप है। वास्तविकता में कोई भी भव्य सार्वजनिक समारोह नहीं हुआ था। यह हस्तान्तरण गुप्त रूप से क्लाइव के टेंट में में हुआ जिसे उसी दौरान कब्जे में लिए गये इलाहाबाद के मुगल किले के परेड ग्राउंड में लगाया गया था। और जहाँ तक शाह आलम के रेशमी सिंहासन की बात है, वह वास्तव में क्लाइव की आराम कुर्सी थी जिसे इस अवसर के लिए उसके भोजन कक्ष से मँगाया गया था और उसे छींटदार चादर से ढक दिया गया था।

बाद में अंग्रेजों ने इज्जत बख्शने के लिए इसे इलाहाबाद की सन्धि कहा, हालाँकि क्लाइव ने इसकी शर्तों को तय किया था और भयभीत शाह आलम ने उन्हें स्वीकार कर लिया था। जैसा कि समकालीन मुगल

इतिहासकार सईद गुलाम हुसैन खान ने लिखा- "इस स्तर का कारोबार जिसके लिये कोई दिखावा या छल बाकी नहीं छोड़ा गया, और जिसे पूरा करने के लिए किसी भी और समय बुद्धिमान राजदूतों और योग्य मध्यस्थों की आवश्यकता होती, साथ-साथ ईस्ट इंडिया कम्पनी और इंग्लैंड के राजा के साथ बहुत ज्यादा बातचीत और सम्मेलनों की आवश्यकता होती तथा मंत्रियों के साथ समझौतों और तकरार की आवश्यकता होती, उसे उससे भी कम समय में पूरा कर लिया गया जितने समय की दरकरार किसी गधे की या लद्दू जानवर या मवेशी की बिक्री के लिए होता है।"

जब 1795 में असली पेंटिंग रायल अकादमी में प्रदर्शित की गयी, उस समय तक ऐसा कोई भी अंग्रेज जिन्दा नहीं था जो वास्तविक घटना का गवाह रहा हो और इस इस विसंगति को बता सके। क्लाइव, जिसके संसदीय सहकर्मी उसके पीछे पड़े हुए थे और जिसे भ्रष्टाचार के लिए बहुत से लोगों द्वारा धिक्कारा जा रहा था, उसने 1774 में इस पेंटिग के पूरा होने से कुछ महीने पहले कागज काटनेवाले चाकू से अपना गला काटकर आत्महत्या कर ली थी। उसे नवम्बर की एक सर्द रात में खुफिया ढंग से मोर्टन से के शरोपशायर गाँव में एक गुमनाम तहखाने में दफना दिया गया। बहुत साल पहले लकड़ी के फर्श को खोदते वक्त कामगारों को क्लाइव की हड्डियाँ मिली थीं, थोड़ा विचारविमर्श करने के बाद उन्हें वहीं वापस छोड़ देने का फैसला किया गया जहाँ वे मिली थीं। वे आज भी वहीं हैं, अब वहाँ एक छोटी, गुमनाम पट्टिका पर खोद कर लिखा है- "प्राइमस इन इंडीस"

आज कम्पनी के हाल के सबसे खरे आलोचक निक रोबिन्स ने ध्यान दिलाया कि लीडनहाल स्ट्रीट में कम्पनी का मुख्यालय रिचर्ड रोजर्स की शीशे और धातु से बनी लायड की इमारत के नीचे स्थित है। क्लाइव को दफन किये गये स्थान के विपरीत इस स्थान की निशानदेही के लिए, जिसे मेकओली ने "दुनिया की महानतम कार्पोरेशन" कहा था, कोई नीली पट्टिका नहीं है और जो निश्चय ही दक्षिण एशिया के विशाल मैदानों में हर जगह राजनीतिक सत्ता पर कब्जा करके मुगलों की बराबरी करनेवाली एकमात्र कम्पनी थी। लेकिन कोई भी जो कम्पनी की विरासत के स्मारक को खोज रहा हो उसे सिर्फ आसपास देखने की जरूरत है। कोई भी समकालीन कॉरपोरेशन इसकी क्रूरता को नहीं दोहरा सकता लेकिन बहुतों ने राजसत्ता को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ढालने की इसकी सफलता की बराबरी करने का प्रयास किया है।

इलाहबाद के लोगों ने भी अपने इतिहास के इस प्रसंग को भुला देना ही ठीक समझा। लाल रेतीले पत्थर से बने मुगल किले में (यह किला पर्यटकों द्वारा देखे जानेवाले लाहौर, आगरा और दिल्ली के किलों से कहीं ज्यादा बड़ा है) जहाँ शाह आलम से जबरन सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर करवाया गया था वह अभी भी एक अलग-थलग पड़ा सैन्य क्षेत्र है। जब पिछले साल के अन्त में मैंने वहाँ की यात्रा की तो न तो गेट पर मौजूद गार्ड और न ही उनके अफसरों में से कोई उन घटनाओं के बारे में जानता था जो उस जगह घटीं थीं; किसी भी संतरी ने उस कम्पनी के बारे में नहीं सुना था जिसकी तोपें आज भी उस परेड ग्राउंड पर बिन्दुओं की तरह छितरी दिखायी देती हैं जहाँ क्लाइव ने अपने टेंट लगाये थे।

इसके बजाय उनका सारा वार्तालाप दृढता से भविष्य पर और भारत के प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के उस स्वागत-सत्कार पर केन्द्रित था जो उन्हें हाल ही की अमरीकी यात्रा पर प्राप्त हुआ था। उनमें से एक गार्ड ने गर्वपूर्वक मुझे टाइम्स ऑफ इंडिया के स्थानीय संस्करण के मुख्य समाचार का शीर्षक दिखाया जिसमें यह घोषणा की गयी थी कि इलाहाबाद उन विषयों में से एक था जिस पर व्हाइट हाउस में मोदी और राष्ट्रपति ओबामा ने चर्चा की। संतरी बहुत आशावादी थे। उन्होंने कहा की आखिरकार "800 साल की गुलामी के बाद" भारत वापस अपनी पहचान हासिल कर रहा था। मुगल, ईस्ट इंडिया कम्पनी और बिरतानी राज सभी की यादें धुँधली पड़ गयी थीं और अब इलाहाबाद भारत के पुनरूर्जीवन का हिस्सा बननेवाला था। उनमें से एक संतरी ने कहा, "जल्दी ही हम एक महान देश बन जायेंगे और हमारा इलाहबाद भी एक महान शहर होगा।"

*****

विक्टोरियाई युग की बुलन्दी के दौरा में उस सन्देहास्पद व्यापारिक तरीके के बारे में एक शर्मिंदगी की प्रबल भावना थी जिस तरीके से अंग्रेजों ने बिरतानी राज की स्थापना की थी। विक्टोरियाई सोचते थे कि इतिहास की असली विषय-वस्तु राष्ट्र राज्य की राजनीति थी। वे मानते थे कि भ्रष्ट कॉरपोरेशंस की अर्थनीति नहीं बल्कि राष्ट्र राज्य की राजनीती ही विश्लेषण की आधारभूत ईकाई और मानवीय सम्बन्धों में परिवर्तन की मुख्य चालक-शक्ति थी। इसके अतिरिक्त वे इस साम्राज्य को सभ्यता प्रसार के अभियान की तरह देखना पसन्द करते थे-- यानी पश्चिम से पूरब की ओर ज्ञान, रेलवे और सभ्यता की कला का एक भद्र राष्ट्रीय स्थानान्तरण। उनमें उस कॉरपोरेट लूट के बारे में एक सोचा-समझा और सुविचारित स्मृति-लोप था जिसने भारत में ब्रिटिश शासन का रास्ता खोला था।

एक दूसरी तस्वीर, इसे हॉउस ऑफ कामन्स में टाँगने के लिए बनवाया गया था, दिखाती है कि इस प्रक्रिया की आधिकारिक याद में कैसे हेरफेर किया गया और कैसे चतुराई से उसे बदला गया। यह तस्वीर अब सेंट स्टीफन हाल में टँगी हुई है जो संसद का गुंजायमान स्वागत कक्ष है। संयोगवश इस गरमी में, जब मैं वहाँ एक सांसद का मिलने के लिए इंतजार कर रहा था, मुझे वह तस्वीर देखने को मिली।

यह पेंटिंग बिल्डिंग ऑफ ब्रिटेन (ब्रिटेन का निर्माण) शीर्षक भित्तिचित्रों की शृंखला का हिस्सा थी। यह वह सब दिखाती है जिसे उस समय की उत्तरदायी समिति ने ब्रिटिश इतिहास की विशिष्टताएँ और मुख्य परिवर्तन माना जैसे 877 में राजा अल्फ्रेड द्वारा डेंस (डेनमार्क) की पराजय, 1707 में इंग्लैंड और स्कॉटलैंड का संसदीय संघ, इत्यादि। लेकिन इस शृंखला की तस्वीरें जो भारत से सम्बन्धित हैं वे दीवानी दिये जाने की घटना को नहीं दर्शाती बल्कि वे उससे पहले के दृश्य को प्रस्तुत करती हैं जिसमें एक मुगल शहजादा एक शामियाने के नीचे ऊपर उठे हुए एक मंच पर बैठा है। एक बार फिर यह एक दरबार का दृश्य है जिसमें चारों ओर अभिवादन करते मुलाजिम हैं जो तुरही बजा रहे हैं, और एक बार फिर एक अंग्रेज मुगल शहजादे के सामने खड़ा है। लेकिन इस बार शक्ति-सन्तुलन काफी अलग है।

जेम्स प्रथम के द्वारा मुगल दरबार में भेजा गया राजदूत सर थोमस रो 1614 में बादशाह जहाँगीर के सामने खड़ा है, यह ऐसा वक्त था जब मुगल साम्राज्य अभी भी बेहद धनी और शक्तिशाली था। जहाँगीर को अपने पिता अकबर से दुनिया के दो सबसे धनी राजतंत्रों में से एक विरासत में मिला था। उसका मुकाबला सिर्फ मिंग के चीन से किया जा सकता था। उसका राज्य ज्यादातर भारत में फैला हुआ था, उसमें वह सब शामिल था जो अब पाकिस्तान और बांग्लादेश है और अफगानिस्तान का ज्यादातर हिस्सा भी शामिल था। वह ऑटोमन से पाँच गुणा ज्यादा जनसंख्यावाले राज्य पर शासन करता था यानी लगभग 10 करोड़ लोग। अपने समय महानगर उसकी राजधानियाँ हुआ करती थीं।

मिल्टन की पुस्तक पेरडाइज लोस्ट में, आदम को जहाँगीर के भारत के महान मुगल शहरों को भविष्य के चमत्कारों के दैवीय नमूनों के रूप में दिखाया गया है। यह कम आंकने का मामला नहीं है- 7 लाख की जनसंख्या की तरफ बढ़ता आगरा यूरोप के सभी शहरों को बौना साबित कर देता था, जबकि लाहौर संयुक्त लन्दन, पेरिस, लिस्बन, मेड्रिड और रोम से भी बड़ा था। यह वह दौर था जब भारत सारी दुनिया के उत्पादन के एक-चौथाई के लिए जिम्मेदार था। इसके विपरीत वैश्विक जीडीपी में ब्रिटेन का योगदान 2 प्रतिशत से भी कम था, और ईस्ट इंडिया कम्पनी इतनी छोटी थी कि वह अभी भी अपने गवर्नर सर थोमस स्मायिथ के घर से संचालित हो रही थी और उसके स्थायी कर्मचारियों की संख्या सिर्फ छह थी। हालाँकि तब भी उसके पास 30 बड़े जहाज थे और वह डेप्थफोर्ड ऑन द थेम्स पर अपने खुद के पोतगाह की मालिक थी।

जहाँगीर के पिता अकबर ने भारत आनेवाले उन यूरोपीय अप्रवासियों को सभ्य बनाने के एक कार्यक्रम का प्रयास किया था जिन्हें वह "बर्बरों का एक जमघट" कहता था लेकिन बाद में उसने इस कार्यक्रम को असम्भव मानकर त्याग दिया। जहाँगीर जिसे विचित्रता और जंगली जानवरों में रुचि थी, उसने उसी उत्साह के साथ सर टॉमस रो का स्वागत किया जैसा उत्साह उसने भारत में पहले टर्की (एक प्रकार का पक्षी) के आगमन पर किया था। उसने रो से उस कोहरेदार द्वीप के बारे में सवाल-जवाब किये जहाँ से वह आया था और उन अजीब चीजों के बारे में पूछा जो वहाँ घटती थीं।

जिस समिति ने हाउस ऑफ कामन्स पेंटिंग की योजना बनायी थी, उसके लिए यह भारत के साथ ब्रिटिश सम्बन्धों की शुरुआत को चिन्हित करता था- दो राष्ट्र पहली बार एक-दूसरे के संपर्क में आये थे। लेकिन वास्तव में, भारत के साथ ब्रिटिश सम्बन्धों की शुरुआत कूटनीति और राजदूतों की मुलाकात से नहीं हुई बल्कि व्यापार से हुई। 24 सितम्बर 1559 को 80 व्यापारी और दुस्साहसी लन्दन शहर के फाउंडर्स हाल में मिले और वे महारानी विक्टोरिया प्रथम को एक कम्पनी शुरू करने के लिए अर्जी देने पर सहमत हो गये। एक साल बाद, ईस्ट इंडीज में व्यापार करने के लिए गर्वनर और कम्पनी ऑफ मर्चेन्टस, कुल 218 लोगों के एक समूह, को एक राजसी अधिकार पत्र मिला, जिसने उन्हें "पूरब में व्यापार" के लिए 15 साल तक का एकाधिकार प्रदान कर दिया।

इस अधिकार पत्र ने उस चीज की स्थापना करने को अधिकृत किया जो उस वक्त के हिसाब से एक नये प्रकार का मौलिक कारोबार था- यह एक पारिवारिक साझेदारी नहीं थी जो उस वक्त तक पूरी दुनिया में एक सामान्य तरीका था बल्कि यह एक मिश्रित पूँजी से बनी कम्पनी थी जो खुले बाजार में कितने ही निवेशकों को व्यापार के लिए हिस्सेदारी बेच सकती थी, यह एक ऐसा तरीका था जो बड़ी भारी मात्रा में पूँजी को हासिल करने की क्षमता रखता था। पहली मिश्रित पूँजीवाली अधिकार प्राप्त कम्पनी मसकोवी कम्पनी थी, जिसे अपने अधिकार 1555 में हासिल हुए थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना उसके 44 साल बाद हुई। अधिकार पत्र में विदेशी क्षेत्रों में ईस्ट इंडिया कम्पनी की सम्पत्ति का कोई उल्लेख नहीं था, लेकिन कम्पनी को जहाँ कहीं भी जरुरत हो उसे वहाँ "लड़ाई छेड़ने" का अधिकार था ।

रो के अभियान के छह साल बाद 28 अगस्त 1608 को विलियम हाकिंस सूरत में उतरा, वह भारतीय जमीन पर पैर रखनेवाला कम्पनी जहाज का पहला कमांडर था। हाकिंस, जो की एक पियक्कड़ बूढ़ा नाविक था, आगरा की तरफ बढ़ा जहाँ उसने बादशाह द्वारा उपहारस्वरूप मिली पत्नी को स्वीकार किया और उसे अपने साथ इंग्लैंड वापस ले गया। यह इतिहास का वह संस्करण था जिसे हॉउस ऑफ कामन्स में पेंटिंग लटकानेवाली समिति ने भूल जाना बेहतर समझा।

अठारहवीं सदी के दौरान मुगलों के भयंकर रूप से तीव्र पतन ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के तेज उभार को सम्भव बनाया। 1739 तक भी, जब क्लाइव सिर्फ 14 साल का था, विशाल मुगल साम्राज्य अभी भी काबुल से मद्रास तक फैला हुआ था। लेकिन इसी साल दुस्साहसी पर्शियावासी नादिर शाह अपनी 15,000 की घुड़सवार फौज के साथ खैबर दर्रे को पार करके नीचे उतरा और उसने 15 लाख आदमियों वाली मुगल सेना को परास्त कर दिया। तीन महीने बाद वह उन खजानों को लेकर वापस पर्शिया लौटा जिन्हें मुगल साम्राज्य ने 200 साल की विजयों के दौरान एकत्रित किया था- खजानों का एक कारवां जिसमें शाहजहाँ का शानदार मयूर सिंहासन, दुनिया का सबसे बड़ा हीरा कोहिनूर और साथ ही उसकी "बहन" दरिया नूर, शामिल थे। इस कारवां में 700 हाथी, 4000 ऊँट और 12000 घोड़े शामिल थे जो सोने, चाँदी और दूसरे बहुमूल्य पत्थरों से लदे हुए थे। उस वक्त की मुद्रा के हिसाब से इसकी अनुमानित कीमत 8.75 करोड़ पाउंड थी। बलपूर्वक छीना गया यह खजाना उससे कहीं ज्यादा मूल्यवान था जितना बाद में क्लाइव ने बंगाल के परिधीय प्रांत से छीना।

नादिर शाह द्वारा मुगल सत्ता के विनाश और उस संचित पूँजी के स्थानान्तरण ने, जो उस सत्ता को वित्तपोषित करती थी, तेजी से साम्राज्य को विघटित कर दिया। उसी साल, फ्रांसीसी कम्पनी देस इन्देस ने अपने खुद के सिक्के ढालने शुरू कर दिये और जल्दी ही जब उन्हें कोई रोकनेवाला नहीं था तो फ्रांसीसियों और अंग्रेज दोनों ने अपने खुद के सिपाही नियुक्त करने शुरू कर दिये तथा अपनी गतिविधियों का सैन्यीकरण कर लिया। जल्दी ही ईस्ट इंडिया कम्पनी पूरी दुनिया में फैल

गयी। लगभग अकेले दम पर उसने उस व्यापार के सन्तुलन को उलटा कर दिया, जिसमें रोमन समय से ही लगातार पश्चिमी सोने-चांदी का पूरब की ओर पलायन हो रहा था। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने चीन में अफीम उतारी और सही समय पर हांगकांग के विदेशी अड्डे पर कब्जा करने के लिए अफीम युद्ध लड़ा और इस तरह नशीली दवाओं में अपने मुनाफेदार एकाधिकार को सुरक्षित किया। पश्चिम के लिए उसने मेस्साच्युटेस में जहाजों में भर-भरकर चीन की चाय भेजी, जहाँ बोस्टन बंदरगाह पर उसे समुद्र में फेंकने की घटना ने अमरीकी स्वतंत्रता युद्ध को चिंगारी दिखायी।

1803 तक, जब ईस्ट इंडिया कम्पनी ने मुगल राजधानी दिल्ली पर कब्जा कर लिया, तब तक वह लगभग 2,60,000 निजी सुरक्षा बलों को प्रशिक्षित कर चुकी थी (जो ब्रिटिश सेना से आकार में दो गुणा थी) और उसने एशिया के किसी भी राष्ट्र से ज्यादा सैन्य ताकत एकत्रित कर ली थी। जैसा कि उसके एक निदेशक ने स्वीकार किया वह "साम्राज्य के अन्दर एक साम्राज्य" थी। इसके साथ ही इस समय तक उसने एक विशाल और जटिल प्रशासन तथा लोक सेवा भी तैयार कर ली थी, लन्दन की ज्यादातर गोदियों का निर्माण कर लिया था और यह ब्रिटेन के कुल व्यापार का लगभग आधा पैदा करने के करीब था। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि तब तक ईस्ट इंडिया कम्पनी खुद को "ब्रह्मांड में कारोबारियों की सबसे वैभवशाली संस्था" कहती थी।

फिर भी आजकल के विशालकाय कार्पोरेशंस की तरह, ईस्ट इंडिया कम्पनी ने यही प्रस्तुत किया कि एक तरफ जहाँ वह बहुत ज्यादा शक्तिशाली थी तो उसी के साथ-साथ आर्थिक अनिश्चितता के सामने वह विचित्र रूप से कमजोर भी थी। दीवानी हासिल करने के सिर्फ सात साल बाद, जब कम्पनी ने बंगाल के खजाने की धनसम्पदा हथियाई तो शेयरों की कीमत रातोंरात दो गुणा हो गयी। लेकिन बंगाल की लूट और अकाल के बाद यह बुलबुला उस वक्त फूट गया जब जमीन की अपेक्षित मालगुजारी में जबरदस्त गिरावट आयी। ईस्ट इंडिया कम्पनी पर 15 लाख पाउंड का कर्जा हो गया और उस पर शाही ताज के भुगतान न किये गये टैक्स की 10 लाख पाउंड की देनदारी थी। जब यह जानकारी सार्वजनिक हुई तो यूरोप के 30 बैंक ताश के पत्तों की तरह डह गये जिसने व्यापार को ठहराव की स्थिति में ला दिया।

ऐसा दृश्य जो आज बेहद जाना-पहचाना-सा लगता है, इसमें इस बेहद आक्रामक कार्पोरेशन को अपना अपराध स्वीकार करना पड़ा और उसने एक बड़ी सरकारी आर्थिक मदद की माँग की। 15 जुलाई 1772 को, ईस्ट इंडिया कम्पनी के निदेशकों ने बैंक ऑफ इंग्लैंड से 4 लाख पाउंड के कर्जे की दरख्वास्त की। एक पखवाड़े के बाद, वे वापस लौटे और उन्होंने 3 लाख पाउंड और माँगे। बैंक ने सिर्फ 2 लाख पाउंड और दिये। अगस्त आते-आते, ये निदेशक सरकार से कानाफूसी कर रहे थे कि हकीकत में उन्हें इसके अलावा और 10 लाख पाउंड की आवश्यकता होगी। एडमुंड बर्क के द्वारा लिखी गयी अगले साल की आधिकारिक रिपोर्ट ने पहले ही भाँप लिया था कि ईस्ट इंडिया कम्पनी का वित्तीय संकट सम्भवतः "एक चक्की के पाट की तरह, ख्सरकार को, अगाध रसातल में खींच ले जायेगा... अन्ततः यह अभिशप्त कम्पनी एक नाग की तरह उस देश के विनाश का कारण बनेगी जिसने इसे अपनी छाती से दूध पिलाया।"

लेकिन लेहमन ब्रदर्स के विपरीत, ईस्ट इंडिया कम्पनी असफल होने के लिए बहुत ज्यादा बड़ी थी। इस तरह वह 1773 था जब दुनिया की पहली आक्रमक बहुराष्ट्रीय कार्पोरेशन को इतिहास की पहली बड़ी आर्थिक मदद से बचाया गया- पहला उदाहरण जब राष्ट्र ने एक नाकाम होती कम्पनी को बचाने की कीमत के तौर पर उसे नियंत्रित करने और कठोरता से उसकी लगाम खींचने का अधिकार हासिल किया।

*****

इलाहबाद में मैंने किले की दीवार के नीचे से एक छोटी नाव किराये पर ली और मैंने नाविक से कहा कि वह मुझे धारा के विपरीत ले कर चले। यह सूर्यास्त से पहले का एक शानदार लम्हा था जिसे उत्तर भारतीय गोधूली की बेला कहते हैं और शाम की रोशनी में यमुना पोविस के किसी रत्न की तरह जगमगा रही थी। बगुले नदी के किनारे उड़ते हुए जा रहे थे और संगम के उस पवित्र स्थान पर जहाँ गंगा और यमुना का मिलन होता है, श्रद्धालु डुबकी लगा रहे थे। पंडों और श्रद्धालुओं के साथ बीच ही छोटे लड़कों की फौज मछली पकड़ने का अपना कांटा लिये खड़ी थी और मछली पकड़ने के एक कम रहस्यमयी काम में व्यस्त थे। तोते परकोटों की कोटरों से बाहर उड़ रहे थे, मैनाएँ बसेरे में लौट आने के लिए पुकार लगा रहीं थीं।

40 मिनट तक ऊँची मीनारों की कतारों और किले के बुर्जों के साथ-साथ, जिनमें से हरेक मुगल खोकों, दुकानों और कलशों से सजा था, एक मील तक हम धीरे-धीरे आगे बढ़ते रहे और पानी नाव के किनारों से टकराता रहा। ऐसा असम्भव प्रतीत होता था कि लन्दन का एक कॉरपोरेशन, भले ही वह कितना ही निर्दयी और आक्रामक क्यों न हो, एक ऐसे साम्राज्य को जीत सकता था जो इतना ज्यादा मजबूत था, जिसे अपनी क्षमता में, अपनी श्रेष्ठता में और सौन्दर्य की सहज भावना में इतना ज्यादा विश्वास था।

इतिहासकार इसकी अनेक वजहें गिनाते हैं- मुगल भारत का छोटे और प्रतियोगी राज्यों में बंट जाना और यूरोपीय शक्तियों को औद्योगिक क्रान्ति की वजह से हासिल हुई सैन्य बढ़त। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण शायद वह समर्थन था जो ईस्ट इंडिया कम्पनी को ब्रिटिश संसद से मिला। पूरी अठारहवीं सदी के दौरान उनके बीच के सम्बन्ध व्यवस्थित रुप से ज्यादा सहजीवी होते गये। वापस लौटनेवाले क्लाइव जैसे करोड़पति अपनी धनदौलत से सांसदों और संसद सीट दोनों को खरीदते रहे-- जैसे प्रसिद्ध रोटन बोरो (ब्रिटिश संसद की कुछ सीटें जहाँ बेहद कम वोटर होते थे, कुछ मामलों में तो पिता वह सीट अपने बेटे को सौंप देता था। उदाहरण के लिए, डनविच सीट जहाँ 32 वोटर थे जो 2 संसद चुनते थे। 1832 में एक कानून बनाकर इन सीटों को खत्म किया गया - अनुवादक)। इसके बदले में संसद ने राजसत्ता के साथ कम्पनी का समर्थन किया- जहाज और सिपाही भेजे गये जिनकी तब जरूरत पड़ी जब फ्रांसीसी और ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनीयों ने एक-दूसरे पर

बंदूकें तान दी।

किले की दीवारों को निहारते हुए मैं राजनेताओं और कॉरपोरेशनों के बीच की सांठ-गाँठ को अतीत के आईने में देख रहा था जब ऐसी ही एक साँठ-गाँठ ने क्लाइव और कम्पनी के उसके सह निदेशकों को बेहिसाब धन दौलत मुहैय्या करवाई थी। आज दुनिया-भर के लगभग हजार अरबपतियों में से 6.9 प्रतिशत इस देश में हैं, हालाँकि इसका सकल घरेलू उत्पादन दुनिया के सकल घरेलू उत्पादन का सिर्फ 2.1 प्रतिशत है। देश के अरबपतियों की कुल दौलत राष्ट्र के जीडीपी की लगभग 10 प्रतिशत है जबकि चीन के अरबपतियों का तुलनात्मक अनुपात 3 प्रतिशत से कम है। ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि इनमें से ज्यादातर सम्पदा राजसत्ता के जोड़-तोड़ से बनायी गयी है जिसमें जमीन और खनिजों पर अधिकार हासिल करने के लिए राजनीतिक प्रभाव का इस्तेमाल किया गया है, नियमों को "लचीला" किया गया है और विदेशी प्रतियोगिता से सुरक्षा प्रदान की गयी है।

भारत में अभी भी बहुराष्ट्रीय कम्पनीयों की साख खलनायक जैसी है और उसकी उचित वजहें हैं। 1984 के भोपाल गैस त्रासदी के हजारों मृतकों और घायलों को आसानी से भुलाया नहीं जा सकता, इस गैस संयंत्र की मालिक अमरीकी बहुराष्टीय कम्पनी यूनियन कार्बाइड किसी भी अभियोग और 30 साल बाद भी किसी तरह के अर्थपूर्ण मुआवजे से बचने में सफल रही है। लेकिन सबसे बड़ी भारतीय कॉरपोरेशंस, जैसे रिलायंस, टाटा, डीएलएफ और अडानी ने भारतीय नीति निर्धारकों और मिडिया को प्रभावित करने में अपने विदेशी प्रतियोगियों से ज्यादा कुशलता का प्रदर्शन किया है। रिलायंस आज भारत की सबसे बड़ी मिडिया कम्पनी है और साथ-साथ इसका सबसे बड़ा समूह है; इसके मालिक मुकेश अम्बानी के पास अपूर्व राजनीतिक पहुँच और ताकत है।

भारत की कांग्रेस पार्टी सरकार के पिछले पाँच सालों पर एक के बाद एक होनेवाले भ्रष्टाचार के आरोपों की छाप है जिसमें जमीन और खनिजों को लगभग मुफ्त में बाँट देने से लेकर मोबाइल फोन स्पेक्ट्रम को उसकी असली कीमत से बेहद कम पर भ्रष्ट तरीके से की गयी बिक्री शामिल है। इसके परिणामस्वरूप पैदा हुआ जन अंसतोष वह मुख्य वजह थी जिसके चलते मई के आम चुनावों में कांग्रेस पार्टी को भारी पराजय का सामना करना पड़ा, हालाँकि इसकी वजह से देश के याराना पूँजीपतियों को नुकसान होने की कोई सम्भावना नहीं है।

4.9 अरब डालर के अनुमानित खर्चे से हुए चुनाव (अमरीकी राष्ट्रपति के 2012 के चुनाव के बाद शायद यह लोकतांत्रिक इतिहास का दूसरा सबसे महँगा चुनाव है) ने कारपोरेट चंदे की लहर के सहारे नरेन्द्र मोदी को सत्ता में पहुँचाया। वास्तविक खर्चे का अनुमान लगाना बेहद कठिन है लेकिन ऐसा अनुमान है कि भारतीय जनता पार्टी ने सिर्फ अखबारों और टीवी पर होनेवाले विज्ञापनों पर कम से कम 1 अरब डालर खर्च किये। इन चंदों में से लगभग 90 प्रतिशत असूचीबद्ध कारपोरेट स्रोतों से आया और कौन जानता है कि उसके बदले में किस पहुँच और क्या-क्या फायदे पहुँचाने के वायदे किये गये। मोदी की नयी सरकार की जबरदस्त मजबूती का मतलब है कि शायद ये कॉरपोरेट समर्थक वह सब न हासिल कर सकें जिसकी वे आशा करते हैं लेकिन निश्चित रूप से चंदे में दिये गये पैसे का ईनाम उन्हें जरूर दिया जायेगा।

रिजर्व बैंक के गर्वनर रघुराम राजन ने सितम्बर में मुम्बई में एक भाषण देते हुए उस कारपोरेट चंदे के बारे में अपनी चिन्ताएँ व्यक्त की जो संसद की पवित्रता को नष्ट कर रहा है। उन्होंने कहा, "हमारा लोकतंत्र और हमारी अर्थव्यवस्था भले ही ज्यादा गतिशील हुई है, हाल के चुनावों में मुख्य मुद्दा यह था कि क्या हमने अतीत के याराना समाजवाद को याराना पूँजीवाद से बदल दिया है, जहाँ अमीर और प्रभावशाली लोगों पर यह इल्जाम है कि वे घूसखोर नेताओं को फायदा पहुँचाकर बदले में जमीन, प्राकृतिक संसाधन और स्पेक्ट्रम हासिल कर लेते हैं। पारदर्शिता और प्रतियोगिता को मारकर पनपनेवाला याराना पूँजीवाद मुक्त उद्यमिता और आर्थिक प्रगति के लिए हानिकारक है। और सार्वजनिक हितों की जगह विशिष्ट हितों को तरजीह देना, लोकतांत्रिक अभिव्यक्ति के लिए हानिकारक है।"

आश्चर्यजनक ढंग से उनकी चिन्ताएँ 200 साल पहले ब्रिटेन में व्यक्त की गयी चिन्ताओं जैसी हैं, जब ईस्ट इंडिया कम्पनी आडंबरपूर्ण धनदौलत और राजनीतिक भ्रष्टाचार का पर्याय बन गयी थी- व्हिग साहित्यकार होरस वालपोल ने गुस्से में कहा था, "इंग्लैंड अब क्या है?" भारतीय सम्पदा की हौदी।" 1767 में कम्पनी ने बंगाल पर शासन करने के अपने अधिकार को जारी रखने के बदले में शाही ताज को 4 लाख पाउंड चंदे में देकर संसदीय विपक्ष को खरीद लिया। लेकिन आख़िरकार 13 फरवरी 1788 को महाभियोग के दौरान क्लाइव के उत्तराधिकारी वारेन हेस्टिंग की लूट और भ्रष्टाचार के खिलाफ गुस्सा अपने चरम पर पहुँच गया। यही एकमात्र अवसर था जब ब्रिटिशों ने ईस्ट इंडिया कम्पनी पर मुकदमा चलाया और उन्होंने अपने सबसे शानदार वक्ता एडमंड बर्क को इसकी जिम्मेदार दी।

अभियोग पक्ष का नेतृत्व करते हुए बर्क ने वापस लौटनेवाले नबूबों (या "नोब", दोनों शब्द उर्दू के "नवाब" शब्द से बने हैं) के खिलाफ इल्जाम लगाया कि वे अपने हितों के पक्ष में वोट देने के लिए न केवल सांसदों को घूस देकर संसदीय शक्ति को खरीद रहे हैं बल्कि अपनी भारतीय लूट का भ्रष्ट तरीके से इस्तेमाल कर संसद में प्रवेश कर रहे हैं- वापस लौटे नबूबों का हवाला देते हुए बर्क ने गरजते हुए कहा। "आज कामन्स ऑफ ग्रेट ब्रिटेन भारत के मुजरिमों पर मुकदमा चला रही है, कल यही भारत के मुजरिम कामन्स ऑफ ग्रेट ब्रिटेन हो सकते हैं।"

बर्क ने उस चिन्ता को सही से पहचान लिया था जो आज आधुनिक उदार लोकतंत्रों की सबसे बड़ी चिन्ताओं में से एक है- निर्मम कार्पोरेशंस द्वारा भ्रष्ट तरीके से विधानमंडल को खरीदने की क्षमता। और अब कॉरपोरेशंस रिटायर्ड नेताओं को उनके स्थापित सम्पर्कों का फायदा उठाने और उनके प्रभाव का इस्तेमाल करने के मकसद से भर्ती कर रहे हैं, वैसा ही ईस्ट इंडिया कम्पनी ने किया था। उदाहरण के लिए, लार्ड कोर्नवालिस जिसने वाशिंगटन से अमरीकी उपनिवेशों के नुकसान का निरीक्षण किया था, उसे ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारतीय इलाकों का निरिक्षण करने के लिए भर्ती किया था। जैसा कि एक पर्यवेक्षक ने लिखा- "सभी मानवीय परिस्थितियों में, शायद

सबसे शानदार और उसी समय सबसे विषम है ब्रिटिश भारत में गवर्नर जनरल होना। एक निजी अंग्रेज सज्जन और साझा पूँजी कम्पनी का नौकर, अपनी सरकार के कुछ समय के दौरान वह दुनिया के सबसे महान साम्राज्य का नियुक्त स्वायत्त अधिकारी है; 10 करोड़ लोगों का शासक है; जबकि निर्भर राजा और राजकुमार श्रद्धापूर्ण हैरत और आत्मसमर्पण के साथ उसके सामने झुकते है। इतिहास में इस पद के समरूप और कुछ नहीं है...।"

हास्टिंग इस अभियोग से बच निकलने में सफल रहा, लेकिन दीवानी दिये जाने के लगभग 90 साल बाद और हास्टिंग के मुकदमे के 60 साल बाद, 1857 के महान भारतीय विद्रोह के चलते संसद ने आखिरकार ईस्ट इंडिया कम्पनी को सत्ता से हटा दिया। 10 मई 1857 को ईस्ट इंडिया कम्पनी के अपने ही सुरक्षा बल अपने मालिकों के खिलाफ उठ खड़े हुए और नौ अनिश्चित महीनों के दौरान विद्रोह को सफलतापूर्वक कुचलने के बाद, कम्पनी ने गंगा के तटों से लगनेवाले कस्बों में हजारों-हजार संदिग्ध विद्रोहियों को फांसी देकर और कत्ल करके आखिरी बार अपनी हकीकत दिखायी। यह शायद ब्रिटिश उपनिवेशवाद के सम्पूर्ण इतिहास का सबसे खूनी अध्याय था।

अब हद हो चुकी थी। वही संसद जिसने ईस्ट इंडिया कम्पनी को इस अभूतपूर्व ताकत तक उभरने लायक बनाया था, अन्ततः उसने अपनी इस औलाद को हजम कर लिया। कॉरपोरेट लालच और अक्षमता से पैदा हुए खतरे से सतर्क ब्रिटिश राज्य ने सफलतापूर्वक इतिहास के सबसे लालची कॉरपोरेशन को काबू में कर लिया। 1859 में एक बार फिर इलाहाबाद के उसी किले की दीवारों के दरम्यान गवर्नर जनरल लार्ड केनिंग ने विधिवत रूप से घोषणा की कि कम्पनी की भारतीय सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण किया जायेगा और उसका नियंत्रण ब्रिटिश शाही ताज के हाथों में सौंप दिया जायेगा। और इसके बाद से ईस्ट इंडिया कम्पनी के निर्देशक नहीं बल्कि महारानी विक्टोरिया भारत की शासक होंगी।

ईस्ट इंडिया कम्पनी अपनी इस अपंग अवस्था में 15 साल तक लड़खड़ाती रही और आखिरकार 1874 में बंद हो गयी। यह ब्रांड अब एक गुजराती कारोबारी के पास है जो इसका इस्तेमाल लन्दन के वेस्ट एंड स्थित एक दुकान से "मसाले और बढ़िया खाने" की बिक्री के लिए करता है। इसी बीच इतिहास और नियति का यह उत्कृष्ट नमूना देखिये कि पोविस कैसल के मौजूदा मालिक ने एक बंगाली औरत से शादी की है और उनकी बंगाली शादी के फोटो शान से पोविस कैसल के चाय पीनेवाले कमरे में प्रदर्शन के लिए टंगे हैं। इसका मतलब है कि क्लाइव के वंशज और उत्तराधिकारी आधे-भारतीय होंगे।

*****

आज हम उसी दुनिया में वापस लौट आये हैं जो सर थोमस रो के लिए जानी-पहचानी होगी, जहाँ पश्चिम की दौलत ने एक बार फिर पूरब की ओर बहना शुरू कर दिया है, उसी तरह से जैसे रोमन साम्राज्य के समय से लेकर ईस्ट इंडिया कम्पनी के जन्म तक हुआ। जब एक ब्रिटिश प्रधानमंत्री (या फ्रांसीसी राष्ट्रपति) भारत की यात्रा करता है तो वह क्लाइव की तरह शर्तें निर्धारित करने के लिए वहाँ नहीं आता। वास्तव में किसी भी तरह की बातचीत एजेंडा में नहीं है। रो की तरह, वे निवेदक की तरह बिजनेस की भीख माँगने आते हैं और उनके साथ उनके देश के सबसे बड़े कॉरपोरेशंस के सीईओ मुख्य प्रबंध अधिकारी आते हैं।

कॉरपोरेशन (एक क्रान्तिकारी यूरोपीयाई आविष्कार जो यूरोपीय उपनिवेशवाद की शुरूआत के समकालीन है और जिसने यूरोप को प्रतियोगिता में आगे बने रहने में मदद पहुँचायी) का यूरोपीय साम्राज्यवाद के पतन के बहुत समय बाद भी फलना-फूलना जारी है। जब इतिहासकार भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की विरासत पर बहस करते हैं तो आम तौर पर वे लोकतंत्र, कानून का राज, रेलवे, चाय और क्रिकेट का जिक्र करते हैं। लेकिन ब्रिटेन का भारत को किया गया सबसे महत्त्वपूर्ण निर्यात निसन्देह मिश्रित-पूँजीवाली कम्पनी का विचार है। और यह चाहे भला हो या बुरा इसने दक्षिण एशिया को किसी भी अन्य यूरोपीय विचार की तुलना में ज्यादा परिवर्तित किया है। इसका प्रभाव निश्चित रूप से साम्यवाद और प्रोटेस्टेंट ईसाइयत से ज्यादा है और सम्भवतः लोकतंत्र से भी ज्यादा।

कम्पनियाँ और कार्पोरेशंस परिवार के अतिरिक्त अन्य किसी भी संस्थान से ज्यादा आज भारतीयों के समय और ऊर्जा पर कब्जा किये हुए हैं। इससे हैरान नहीं होना चाहिए- जैसे कि हावर्ड सेंटर फॉर बिजनेस एंड गवर्नमेंट की भूतपूर्व निदेशक इरा जैकसन ने हाल ही में टिप्पणी की कि कार्पोरेशंस और उनके लीडरों ने आज "राजनीति और राजनेताओं का स्थान ले लिया है... ये आज हमारी व्यवस्था के नये पुजारी और कुलीन हैं।" गुप्त रूप से कम्पनियाँ अभी भी मानवजाति के एक बड़े हिस्से की जिन्दगी पर राज करती हैं।

यह 300 साल पुराना सवाल, बिना किसी स्पष्ट जवाब के आज भी बना हुआ है कि एक विशाल बहुराष्ट्रीय कॉरपोरेशन की ताकत और खतरों का कैसे सामना किया जाये- यह स्पष्ट नहीं है कि एक राष्ट्र कारपोरेट ज्यादतियों से कैसे खुद की और अपने नागरिकों की समुचित रूप से रक्षा कर सकता है। जैसा की 2007-2009 के सबप्राइम कर्ज बुलबले और बैंकों के पतन ने हाल ही में प्रदर्शित किया कि जिस तरह कॉरपोरेशंस राष्ट्रों की नियति को बदल सकते हैं उसी तरह वे उनकी अर्थव्यवस्थाओं को रसातल में भी पहुँचा सकते हैं। जनवरी 2007 और सितम्बर 2009 के बीच अमरीकी और यूरोपीय बैंकों ने कुल मिलाकर 10 खरब डालर का नुकसान उठाया। बर्क को 1772 में ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा इंग्लैंड का जो हाल किये जाने का डर था, असल में वह 2008-2011 में आइसलैंड के साथ हुआ जब देश के सबसे बड़े निजी मालिकानेवाले तीनों व्यवसायिक बैंकों के व्यवस्थागत पतन ने देश को दिवालिया होने के कगार पर ला खड़ा किया। एक शक्तिशाली कॉरपोरेशन आज भी एक राष्ट्र को उतने ही प्रभावी ढंग से अभिभूत और तबाह कर सकता है जैसे ईस्ट इंडिया कम्पनी ने 1765 में बंगाल को किया था।

सत्ता, पैसे और गैरजिम्मेदारी के घातक मिश्रण के साथ कारपोरेट प्रभाव विशेष तौर से उन कमजोर राष्ट्रों के लिए प्रबल और खतरनाक है जहाँ कॉरपोरेशंस अपर्याप्त और अप्रभावी रूप से नियंत्रित हैं और जहाँ एक विशाल

शेष पृष्ठ 54 पर...